

ISSN-2250-2335

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)



सूर्यबाला की रचनाओं पर केन्द्रित

21

वर्ष-11 ■ अंक-21 ■ जुलाई-दिसम्बर-2018 ■ मूल्य ५० रुपए ■ पूर्णांक 60
संपादक - देवेश ठाकुर

With best wishes from :



CREATIVE EYE LTD.

CORPORATE OFFICE : 'KAILASH PLAZA' PLOT NO. 12-A, NEW LINK ROAD.
OPP. LAXMI IND. EST. ANDHERI (W), MUMBAI-400 053.
Tel. : 26732612-15 • Fax26315024
E-mail : dk@creativeeye.vsnl.netin • visit our Website : www.creativeeye.com

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

प्रबंध संपादिका :

डॉ. रोहिणी शिवबालन

संपादक-प्रकाशक :

डॉ. देवेश ठाकुर

संयुक्त संपादक :

डॉ. सतीश पांडेय

उप संपादक :

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

संपादकीय-संपर्क :

बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा,
घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई-400 084
टेलिफोन : 25161446
Email : sameecheen@gmail.com

विशेष :

‘समीचीन’ में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

विद्वत परीक्षक मंडल : (Peer Review Team)

- डॉ. शरेशचंद्र चुलकीमठ
पूर्व अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़
- डॉ. अरुणा दुबलिश
पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, मेरठ (उ. प्र.)
- डॉ. पुष्पारानी
अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, हरियाणा
- डॉ. नरेंद्र मिश्र
हिंदी विभाग,
जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : देवेश ठाकुर ने प्रिंटोग्राफी सिस्टम (इंडिया) प्रा. लि., 13/डी, कुर्ला इंडस्ट्रियल एस्टेट, नारी सेवा सदन रोड, नारायण नगर, घाटकोपर (प.), मुंबई-400086 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

संपादक : देवेश ठाकुर

वर्ष-11, मूल्य - 50 रुपए अंक-21, पूर्णांक-60
सहयोग : एक प्रति रु. 50 /-, वार्षिक रु.100/-, पंच वार्षिक रु.500/-, आजीवन सदस्यता रु. 5000/-

जीवन के सक्रिय एवं सर्जनशील 85 वर्ष पूर्ण करने के उपलक्ष्य
में वरिष्ठ आलोचक एवं सशक्त कथाकार



डॉ. देवेश ठाकुर

का

सम्मान समारोह

एवं

देवेश ठाकुर रचनावली (सोलह खंड)

का

लोकार्पण

स्थान : रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय सभागृह

माटुंगा, मुंबई - 400019

दिनांक : 16 सितंबर 2018, रविवार

समय : 4:00 बजे सायं

सुधी साहित्यधर्मी, आत्मीय परिजन, मित्र, परिचित एवं विद्यार्थी सादर आमंत्रित हैं।

आयोजक:

डॉ. रोहिणी शिवबालन

डॉ. सतीश पांडेय

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

इस अंक में	पृष्ठ
<input type="checkbox"/> अपने तई	6
<input type="checkbox"/> परिचय : डॉ. सूर्यबाला	8
<input type="checkbox"/> मैं क्यों लिखती हूँ डॉ. सूर्यबाला	10
<input type="checkbox"/> दस्तावेज-अंतमन के चित्रा देसाई	17
<input type="checkbox"/> सहज कथाकार सूर्यबाला डॉ. अरुणा दुबलिश	22
<input type="checkbox"/> सूर्यबाला के उपन्यासों का एक सर्वेक्षण गंगा शरण सिंह	26
<input type="checkbox"/> वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का कटु यथार्थ : दीक्षांत डॉ. श्यामसुंदर पाण्डेय	31
<input type="checkbox"/> यामिनी कथा : संघर्ष की अंतहीन व्यथा-कथा डॉ. माधुरी छेड़ा	38
<input type="checkbox"/> साधारण स्त्री की असाधारणता डॉ. नीरा नाहटा	43
<input type="checkbox"/> सूर्यबाला के स्मित व्यंग्य : संवेदना के प्रवाह में विचारों के अक्स डॉ. शशि मिश्रा	48
<input type="checkbox"/> सब्र के अंत से उपजा व्यंग्य : इस हमाम में डॉ. सतीश पाण्डेय	55
<input type="checkbox"/> सूर्यबाला के व्यंग्य-लेखन की धार नंद भारद्वाज	62
<input type="checkbox"/> तथाकथित सभ्य समाज की विद्रूपताओं को उकेरती सूर्यबाला की कहानियाँ डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट	67
<input type="checkbox"/> परिस्थितियों पर विजय का जीवंत दस्तावेज : 'थाली भर चाँद' डॉ. अजीत कुमार राय	84
<input type="checkbox"/> बिखरते हुए मूल्यों को उकेरती कहानियाँ डॉ. उषा दुबे	90
<input type="checkbox"/> सूर्यबाला की कहानियों में महानगरीय बोध ज्योति बी. थोरात (बोहरा)	96
<input type="checkbox"/> 'गृहप्रवेश' का रचना-विधान गणेश ताराचंद खैरे	101
<input type="checkbox"/> सूर्यबाला जी से सुधीर चौबे की एक बातचीत	104

अपने तई

बड़े संस्थानों द्वारा उत्सवधर्मी और व्यावसायिक पत्रकारिता के इस दौर में कुछ आलेखों, कहानियों या अन्य रचनाओं से युक्त किसी पत्रिका के सामान्य अंक की उपादेयता हमेशा से प्रश्नों के दायरे में रही है। इसीलिए 'समीचीन' द्वारा किसी रचनाकार या साहित्यिक विषय पर केंद्रित विशेषांक निकालने का प्रयास लंबे समय से किया जाता रहा है। रचना-प्रक्रिया, नाटककार और नाट्यसमीक्षा, लघुकथा, आधुनिकता आदि विषयों के अतिरिक्त हनुमंत नायडू, अरुणा दुबलिश और मंगलेश डबराल के साहित्यिक अवदान पर केंद्रित विशेषांक इस दृष्टि से उल्लेखनीय रहे हैं। इसी क्रम में सूर्यबाला जी की रचनाओं पर केंद्रित यह विशेषांक आपके समक्ष प्रस्तुत है।

सूर्यबाला जी समकालीन कथा साहित्य की एक विशिष्ट हस्ताक्षर हैं। आज जब अधिकांश रचनाकार आत्ममुग्ध भाव से अभिभूत होकर वैश्वीकरण और बाजार के दबाव में तमाम विमर्शों की आँधी में बहे जा रहे हैं, सूर्यबाला जी अपने आस-पास का जीवन और समाज उसकी पूरी शक्ति और सीमाओं के साथ अपनी रचनाओं में सजगता से उकेरने में विश्वास रखती हैं। इसीलिए वे किसी वाद या सिद्धांत विशेष से जुड़े बिना अपने समय और समाज की समस्याओं को नितांत अपनी दृष्टि से देखने का प्रयास करती हैं। इनके चरित्र किसी आरोपित विचारधारा के संवाहक न होकर कई बार टूटते-हारते भी हैं लेकिन लेखिका का प्रयास उन्हें सहज बनाए रखने का होता है। जीवन को उसकी समग्रता में सहज ढंग से निरूपित करने के कारण ये स्त्री विमर्श या उत्तर आधुनिक विचारों की विद्रोही भंगिमा या आंदोलनधर्मिता से बिलकुल प्रभावित नहीं होतीं। इनके लेखन में मानवीय जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा एवं मानव जीवन की बेहतरी का प्रयास होता है लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं निकाला जा सकता कि वे भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रयास में दकियानूसी मान्यताओं का समर्थन करती हैं। वस्तुतः वे अपने जीवन और साहित्य दोनों में आधुनिक, प्रगतिशील एवं मानवीय संवेदनाओं की प्रतिष्ठा करती हुई संतुलित दृष्टि रखती हैं। उनको व्यक्तिगत रूप से जानने वाले यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि वे अपने जीवन और साहित्य दोनों में वैचारिक सामंजस्य और एकरूपता बनाये रखती हैं। अब तक पाँच उपन्यास, बारह कथा संकलन और पाँच व्यंग्य संग्रहों के अतिरिक्त डायरी, संस्मरण तथा बाल साहित्य आदि विधाओं में इन्होंने अपनी लेखनी चलायी है किंतु इनका समुचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है।

‘समीचीन’ का यह विशेषांक इसी की भरपाई करने का एक लघु प्रयास है। इसमें भी इनके समग्र साहित्य के आकलन का कोई पुख्ता दावा तो नहीं किया जा सकता है किंतु सीमित साधनों एवं सीमाओं में हमने उनकी अधिकांश रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए हिंदी साहित्य में उनके अमूल्य योगदान की ओर सुधी साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया है। उम्मीद है कि इससे सूर्यबाला जी के साहित्य के गंभीर अध्ययन की एक दिशा अवश्य प्रशस्त होगी। हमारे आग्रह पर जिन्होंने लेखकीय सहयोग दिया है, समीचीन परिवार उनके प्रति आभारी है।

समीचीन का अगला अंक प्रसिद्ध कथाकार श्रवण कुमार गोस्वामी के लेखन पर एकाग्र होगा। आप सबका सहयोग अपेक्षित है।

अस्तु।

- डॉ. सतीश पांडेय

E-mail : sameecheen@gmail.com

□ □

डॉ. सूर्यबाला

जन्म स्थान, तिथि: वाराणसी, 25 अक्टूबर 1943

शैक्षिक योग्यता: एम.ए., पी-एच.डी. (काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी) समकालीन कथा-साहित्य में सूर्यबाला का लेखन अपनी विशिष्ट भूमिका और महत्व रखता है। अब तक प्रकाशित पाँच उपन्यास, बारह कथा-संग्रह और पाँच व्यंग्य-संग्रहों के अतिरिक्त डायरी, संस्मरणों पर भी उन्होंने कलम चलाई है। समाज, परंपरा, आधुनिकता एवं उनसे जुड़ी समस्याओं को सूर्यबाला एक खुली, मुक्त और नितांत अपनी दृष्टि से देखने की कोशिश करती हैं। उनमें न अंधश्रद्धा है, न एकांगी विद्रोह। अनेक रचनाएं कक्षा आठ से स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में पाठ्यक्रमों में संकलित हैं।

कृतियाँ

उपन्यास: मेरे संधि-पत्र, सुबह के इंतजार तक, अग्निपंखी, यामिनी-कथा, दीक्षांत **कहानी संग्रह:** एक इंद्रधनुष जुबेदा के नाम, दिशाहीन, थाली भर चाँद, मुंडेर पर, गृहप्रवेश, सांझवाती, कात्यायनी संवाद, इक्कीस कहानियाँ, पांच लंबी कहानियाँ, मानुष-गंध, गौरा गुनवंती, इक्कीस श्रेष्ठ कहानियाँ, यादगारी कहानियाँ, (पेपर बैक), वे जरी के फूल तथा अन्य प्रेम कहानियाँ, सूर्यबाला-संकलित कहानियाँ, दस प्रतिनिधि कहानियाँ गैर हाजिरी के बावजूद (स्त्री केंद्रित कहानियाँ), एक टुकड़ा कस्तूरी, (प्रेम कहानियाँ), सूर्यबाला की लोकप्रिय कहानियाँ।

व्यंग्य संग्रह: अजगर करे न चाकरी, धृतराष्ट्र टाइम्स, देश सेवा के अखाड़े में, 'भगवान ने कहा था', पत्नी और पुरस्कार, मेरी प्रिय व्यंग्य रचनाएँ, यह व्यंग्य कौ पंथ, (प्रतिनिधि व्यंग्य रचनाएँ), श्रेष्ठ व्यंग्य: सूर्यबाला की श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, इस हमाम में

शीघ्र प्रकाश्य: अबोले शब्दों का सफर (अब तक की समग्र कहानियाँ)

सूर्यबाला की चुनिंदा कहानियाँ।

स्मृति कथा/ संस्मरण: अलविदा अन्ना।

बाल साहित्य: झगड़ा निपटारक दफ्तर।

अंग्रेजी में अनूदित: द गर्ल विद् अनशेड टियर्स।

मराठी में अनूदित: यामिनी कथा, पहाटेच्या: प्रतिक्षेत, मी-शिवा (उपन्यास यामिनी कथा, सुबह के इंतजार तक तथा मेरे संधिपत्र के मराठी अनुवाद।)

उपन्यास 'दीक्षांत' तथा 'यामिनी कथा' क्रमशः स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में। टी.वी धारावाहिकों के माध्यम से अनेक कहानियों, उपन्यासों तथा हास्य-व्यंग्यपरक रचनाओं का रूपांतर प्रस्तुत, जिसमें पलाश के फूल, न किन्नी न, सौदागर, एक इन्द्रधनुष जुबेदा के नाम, सबको पता है, रेस, निर्वासित आदि प्रमुख हैं। 'सजायाप्रता' कहानी पर बनी टेलीफिल्म को वर्ष 2007 का सर्वश्रेष्ठ टेलीफिल्म पुरस्कार।

कोलंबिया विश्वविद्यालय (न्यूयार्क) वेस्टइंडीज विश्वविद्यालय (त्रिनिनाद) एवं नेहरू सेंटर (लंदन) में कहानी एवं व्यंग्य रचनाओं का पाठ।

न्यूयार्क के शब्द टी.वी. चैनल पर कहानी एवं व्यंग्य पाठ।

सम्मान: प्रियदर्शिनी पुरस्कार, घनश्यामदास सराफ पुरस्कार, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, काशी नागरी प्रचारिणी सतपुड़ा लोक संस्कृति, अभियान, मुंबई विद्यापीठ, व्यंग्य-श्री पुरस्कार, रत्नादेवी गोइन्का वाग्देवी पुरस्कार, राजस्थान लेखिका मंच वाग्मणि सम्मान, अभियान आजीवन उपलब्धि सम्मान, हरिशंकर परसाई स्मृति सम्मान, जीवन्ती फाउंडेशन का साहित्य गौरव सम्मान, महाराष्ट्र साहित्य अकादमी का राज्यस्तरीय सम्मान, भारतीय प्रसार-परिषद् का भारती गौरव सम्मान आदि से सम्मानित। साहित्य में विशेष अवदान के लिए इसी वर्ष महाराष्ट्र दिवस पर सम्मानित।

संपर्क : बी-504, रूनवाल सेंटर,
गोवंडी स्टेशन रोड, देवनार, चेम्बूर,
मुंबई - 400088

□ □

मैं क्यों लिखती हूँ

सूर्यबाला

उम्र और लेखन के इस पड़ाव तक आते-आते कितनी बार यह सवाल मेरा घेराव कर चुका है। मुझे कटघरे में डाल चुका है। क्यों लिखती हूँ मैं?—खुद की खुद के साथ चलती एक अनवरत जिज्ञासा भर नहीं—अड़ियल, जिद्दी बच्चे-सा हमेशा मेरे वजूद से अटकता, उलझता, अपने हठ पर अड़ा एक सवाल!

अचानक रुकती हूँ, उम्र की ढलान से उतरकर एक नन्ही-सी बच्ची में तब्दील हो जाती हूँ। दशकों लंबी तारकोली सड़क के किनारे चलती हुई, बस्ती के आखिरी छोर पर बने एक मकान के सामने वह बच्ची रुक जाती है।

उसके इस घर की पुख्ता मुँडेर की छोर पर भी पतंग-सा अटका है यह सवाल!

कटक अटकी इस पतंग का छोर पकड़ूँ कि मांझा सरक जाता है, हवा के साथ लहराती पतंग अदृश्य हो जाती है, ठीक इसी तरह, इस सवाल की डोर भी, जितना समेटने की कोशिश करती हूँ, हाथ से छूटती चली जाती है।

घरों की छतों और पेड़ों की फुनगियों पर उलझती, अटकती पतंग का पीछा करती वह बच्ची अचानक किन्हीं आवाजों का शोर सुनकर चौंक जाती है।

सामने, सड़क की दूसरी तरफ से बनारस के लिए जाती कोई अरथी गुजर रही होती है।

एक भयातुर सन्नाटा खिंच जाता है, बच्ची के मन-मस्तिष्क के आर-पार। दोपहरें तभी से निचाट, सन्नाटी लगती है, शामें उदास, खामोश। वह सन्नाटा आज तक मैं भर नहीं पाई हूँ। पाँचवी-छठीं में पढ़ने वाली दोनों बड़ी बहनें चीखती, शोर मचाती अपने-अपने बस्ते लिये स्कूल के लिए दौड़ जातीं। माँ नौकर-चाकरों के साथ घर के कामकाज, तोतली बहन और छुटके भाई को लेकर लस्त-पस्त हो जातीं। ऐसे में दोनों तरफ को जोड़ बाकी से बची हुई मैं, हर थोड़ी देर बाद अपनी ऊँचाई-बराबर की मुँडेर पर आकर खड़ी हो अचंभे और आतंक से भी देखती रहती, हर घंटे-आधे घंटे पर इक्के पर, रिकशे पर, कंधों पर और अंतिम संस्कार मेल पर गुजरती अरथियाँ।

उनमें से कुछ बाजे-गाजे के साथ रेशमी परिधानी और रंग-बिरंगी झंडियों से सजी; खील, बतासे और तांबे के पैसे लुटाती हुई; तो कुछ निपट अकेली इक्के या रिक्शों में बैधी, एकाध सहयात्री भर साथ।

दोपहर में टिक्कड़-दाल खाकर अलसाते-ऊँघते नौकरों की आँखें अकसर इन विमानों की सजावट पर खुशी से टिहकार उठतीं।

प्रायः ऐसे 'विमानों' को किसी पेड़ के साए या चबूतरे पर उतारकर सहयात्री सुस्ताते होते। थोड़ी देर में 'वैन' आ जाती। काली वैन की छत के दोनों तरफ सफेद अक्षरों में लिखा होता, 'अंतिम संस्कार मेल'।

अरथी वैन की छत पर बाँध दी जाती। साथ जानेवाले बैठ जाते, बाकी भीड़ तितर-बितर हो जाती।

किसी ओर भी शोक-संतप्तता या अवसाद जैसा माहौल बिलकुल न होता-सिर्फ थकान, ऊब, एकरसता और समय काटने का सा भाव। एक दहशत-भरा आतंक व्यापता जाता मेरी समूची बाल चेतना पर। मुँडेरों के साए में घंटों चुपचाप बैठी, सहमी-सहमी-सी अपने आपसे पूछा करती-क्या होता है मरना—कैसे मर जाया जाता है? क्या सचमुच एक दिन अम्मा, बाबूजी, बड़ी अम्मा, भैया और बहनें सब मर जाएँगे? ... इसी तरह? मैं भी?....

नसों को जकड़ती हुई एक टंडी सिहरन उतरती चली जाती।

मेरी दिनचर्या में अनिवार्य रूप से शामिल हो गए इस सवाल और अहसास से घर के सारे बड़े लोग अनजान थे। उनकी नजरों में तो मैं एक बेहद चिबिल्ली और मजेदार शरारतों से भरपूर छोटी बच्ची थी। ...

तो, ऊपर-ऊपर हाजिर-जवाब टिठोलियों के कँगूरेदार बुर्ज और नीचे उफनता नहीं, गहराता चला जाता अवसादी समंदर-दो महाविरोधी वृत्तियों में जकड़ा हुआ बचपन। मेरे अंदर की खामोशी और आतंक सिर्फ मेरी चौदह वर्षीय बहन को छोड़कर और कोई न जान सका था। अब सोचती हूँ कि कितना परेशान कर दिया होगा मेरे आतंकिता, डरे-सहमे प्रश्नों ने बारह-तेरह बरस की एक लड़की को; पर मेरी उस बड़ी बहन ने अपनी उम्र की सीमा से कहीं ज्यादा मुझे सँभाला और प्रबोधा था।

भय और आतंक छँटा... वह दहशत भी। जिन बहुत अपनों की मृत्यु की बात सोचकर ही एक रूँधती-सी सिहरन पसरती चली जाती थी, उनमें कितनों का चला जाना अब अतीत की एक घटना मात्र रह गई है। बीता समय पिटारी-सा बंद हो चुका है; पर सन्नाटा साथ लगा है। जैसे मैं उसी के बीच भटकती रहने के लिए जनमी हूँ। जैसे मेरा

वही सहमा हुआ पहला प्रश्न मुखौटा बदलकर मेरी कलम की नोक पर आकर टिक गया हो।

शुरुआती कुछ पंक्तियाँ ऐसी ही किसी मनःस्थिति में आप से आप बनती, रचती चली गई थीं। कोई वैराग्यशतक नहीं था वह। शायद उस अनाम बेकली को बाँट लेने की एक अवचेतनी कोशिश-भर। किशोरवयी कहानियों और कविताओं में भी जाने-अनजाने, जहाँ-तहाँ झलकती चली गई अंदर पैठी यह खामोशी।

सचमुच सोचें तो लिखना है भी क्या! एक सतत भटकन, एक अनवरत शोध... और इस दौरान मिल गए जवाबों को अलग-अलग खरादों पर जाँचते चले जाने की प्रक्रिया पुनः प्रयोग और पुनः निदानों का एक अंतहीन सिलसिला।

जीवन भी तो कुछ इसी तरह है। एक अंतहीन यात्रा-पड़ाव बहुत सारे; पर गंतव्य कहीं नहीं। चलना, मात्र चलना। ठीक लिखने की तरह ही। इस दृष्टि से लेखन और जीवन में कुछ बहुत सादृश्य-सा। दोनों एक-दूसरे से निरंतर पाते और बाँटते हुए गतिमान। महीन सुई की तरह कलम की नोक बेलबूटे काढ़ती चलती है, जिंदगी की चादर पर। ...

यह कलम की नोक और कुछ नहीं, सिर्फ एक खरी नीयत और पक्के उसूल की मांग करती है। न जाने क्यों, आज हमने उसे आकाश छूती महत्वाकांक्षाओं के साथ जोड़ दिया है। सृजन के मूल सुख, तृप्ति को दूसरा दर्जा दे दिया है। उसे माध्यम बना लिया है, अपनी आकाशगामी, आकाशकामी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए। साध्य से साधन हो गया यह ... लेखन... वरना अपने आपको अक्षर-अक्षर रचते, बाँटते चलने की समूची प्रक्रिया ही कुछ इस तरह चलती है कि हम कहीं रह ही नहीं जाते। सब बाँट-बूँट बराबर। जीवन-स्वत्व का पूरी तरह शब्द के समत्व में समापन कर। रह जाता है तो बस अक्षर-शब्दों में समाया एक प्रार्थना रूप। मात्र अंजलि में रचा-बसा होता है-पाने और बाँटने का अपूर्व समायोग।

एक बात और, हमें जो मिला, हम वही तो बाँटेंगे। मुझे दुःख और अवसाद मिला, लेकिन लाड़-दुलार से पोर-पोर सिंचा हुआ, अपनेपन में समोया हुआ। बेगाने के नाम से बिदकता हुआ... इस अवसाद को, दुःख को मैं नकारात्मक नहीं मान सकती क्योंकि इसके माध्यम से मैं करुणा और अपनेपन की विरासत सहेजने और बाँटने की कोशिश करूँगी ही करूँगी। बीहड़ संकटों, संघर्षों में अपने टूटे रथ की धुरी पर कोहनी लगाने के लिए जो ममता-भरी बाँहें आगे आई-जाने-अनजाने, वे सब भी उतरेंगे ही लेखन के धर्मक्षेत्र में। और भी तो हर मोड़, डगर पर कितने-कितने विलक्षण अहसास, भाव-संपदाएँ और अजाने संबंधों के गहराते चले जानेवाले समंदर। इस समंदर की अतल गहराई में जाने पर प्रायः लगता है, जीवन कितना अभेद तिलिस्म, भेदते चले जाइए, एक

के बाद एक चोर दरवाजे खुलते चले जाएंगे। तिलिस्म गहराता चला जाएगा। और यह मन... मानव मन- (भगवान बचाए इससे) हृद का मोही, हृद का निर्मम; पल में साधु, पल में महाप्रपंची चाटुकार... कभी सब कुछ लुटाकर बिछ जानेवाला तो कभी सब कुछ झपटकर हथिया लेनेवाला — अनगिनत, असंख्य, खुले-अधखुले और जकड़ बंद प्रकोष्ठोंवाला, रेशमी परदे से ढँका एक नन्हा झरोखा — मैं प्रायः इस झरोखे से सटी देखती रह जाती हूँ — अर्जुन की तरह अपलक, अवाक् — इसमें निहित, अनंत विश्व ब्रह्मांड जैसी विस्मय-विमूढ़ कर देनेवाली क्रिया-प्रक्रियाएँ, गतिविधियाँ। चुपचाप इन प्रकोष्ठों में घुसने की जासूसी मेरी कलम अनायास किया करती है।

यह इतना सच शायद अब तक हर रचना के उत्सर्बिंदु के रूप में चला जाता है। जीवन का वह पहला अवसादी अहसास आज भी भरी-पूरी महफिलों के बीच मुझमें पैठता चला जाता है। तो क्या निरंतर उस सन्नाटे को थहाते, खँगालते जाने के लिए ही लिखती हूँ? प्रश्नवाचक चिह्न हटा लीजिए, उत्तर मिल जाएगा।

लेकिन यह तो कोई वजनदार, साहित्य की चौखट पर रखने लायक बात लगती नहीं। कुछ निरी वैयक्तिक और सीमित-सी। लेकिन यह न वैयक्तिक है, न सीमित ही। यह मन, यह उदासी एक नन्हा ताल है, जिसमें बहुत-बहुत सारे नामी-अनामी चेहरों के अवस हैं। इनमें सिर्फ वे सब ही नहीं जो निरंतर संघर्ष करते हुए भी अपना प्राप्य नहीं प्राप्त कर पाए और जिंदगी, किन्हीं अनाम वाजिब-गैरवाजिब कारणों से, उनकी छँटनी करती चली गई, बल्कि वे भी हैं जो इस जद्दोजहद में तार-तार होते जाने के बावजूद पूरे जीवट से अपनी उदासी छुपाए, अपनों के लिए ताउम्र मुस्कराते चले गए। इस तरह के दर्द को छुपाने में माहिर, लोगों ने मुझे भरी महफिलों में बहुत विकल किया है। उनकी हँसी मुझे उस हिचकोले खाती किशती की पतवार-सी लगी है, जो अपने चारों ओर घिरी घुटन और दर्द की सतह को जी जान से काटती चलती है।

मैं ऐसी ही मुसकराहटों की ओट में हलके से दुबक लेती हूँ — कलम की आड़ में — अपलक विस्मित देखती हूँ, गुमनाम तड़प के उस मुहरबंद इतिहास को जिसके सफे कभी न खुल पाने के लिए अभिशप्त हैं। दूसरे शब्दों में इसे ही शायद अनकही पीड़ा का अभिषेक कहेंगे, हर रचनाकार से जीवन को मिलनेवाली करुणांजलि। आज से नहीं, आदि युग से — क्रौंचवध की पीड़ा से शुरू हुई 'स्व' को 'लोक' से मिलाती एक अजस्र धारा — व्यक्ति से व्यक्ति में, एक से अनेक में, प्रवहमान होती चली जाती है, हर किसी का अपना ही सच बनकर। लेखन की चरम उपलब्धि यही है। छोर-अछोर व्यक्ति समाज से उसकी साझेदारी। यही उसका कार्य, यही उसका काम्य। 'भुक्खड़ की औलाद', 'बाऊजी और बंदर', 'न किसी न', आदि ऐसे ही भावबिंदु से उपजी कहानियाँ हैं।

लेकिन यह साझेदारी, पलायन और हताशा अंधेरे और अविश्वास की हो तो इसका

औचित्य? क्योंकि साहित्य को कभी समाज से निरपेक्ष देखा ही नहीं जा सकता। इसलिए सिर्फ खुदी की बुलंदी या खुदी के विलय पर विराम नहीं लगाया जा सकता। आपको हताशा, सन्नाटा और उदासी मिली है, तो मिली है, भुगतिए उसे—पर आप उसे वैसा का वैसा नहीं बाँट सकते। बाँटना है तो इस तरह कि उसी हताशा के बीच से जूझते हुए, दम से बेदम होते हुए भी बूँद-बूँद अमृत निचोड़ ले जाया जाए। हमारी चादर भले तार-तार हो गई हो, पर जिसका साझा है हमारे लेखन के साथ, उनमें अपनी उघड़ी सीवनें छुपाने नहीं, बल्कि गूँथ और सँवार ले जाने का हुनर थमा जाएँ। हृदे उलाघती भौतिकता, आज साहित्य को भले ही अप्रासंगिक मान बैठी हो प्रत्यक्ष जनजीवन के प्रवाह से, लेकिन साहित्य अपने सरोकारो के प्रति सन्नद्ध रहेगा ही रहेगा। प्रचार साधनों की क्रांति के इस युग में कलम से किसी क्रांति की उम्मीद तो एक दिवास्वप्न ही कही जाएगी। पर यह भी निश्चित है कि घोर विध्वंसगामी प्रवृत्तियों से निजात भी साहित्य ही दिला सकता है। क्रांति के रूप में न सही, क्रमशः व्यक्ति में से एक बेहतर व्यक्ति को ढालने की अनवरत कोशिश में। स्रोत भले ही हमारा करुणा, अवसाद और अँधेरा हो, समापन अविश्वास, अनास्था और अँधेरे के बीच नहीं वरन जीवन-आस्था के आलोक बिंदु पर ही होना है। ('गृहप्रवेश' और 'होगी जय... हे पुरुषोत्तम नवीन')।

लेकिन इस अर्थ, इस लक्ष्य को मात्र कागजी अभियान, विद्रोह और जागृति तथा चेतना के शंखनाद के साथ जोड़ देने से पूरी बात अरचनात्मक-सी हो उठती है। इन शब्दों का बार-बार आलोड़न-बिलोड़न और उछाल एक नकली आवेश को जन्म देकर रह जाता है। जबकि जरूरत आज एक मेच्योर समझ और बोध दे पाने की है।

पिछले दिनों 'दीक्षांत' (उपन्यास) लिखते हुए अंदर-अंदर कुछ ऐसी ही रस्साकशी चली। 'दीक्षांत' के नायक 'शर्मा' सर मर्मांतक, करुण परिस्थितियों से जूझ रहे हैं और मैं उन्हें एक पॉजिटिव जीवन-दिशा नहीं दिखा पा रही। मैं उनके हाथों में विद्रोह की मशाल क्यों नहीं थमा पा रही? क्यों नहीं क्रांति का बिगुल बजवा, न्याय की प्रतिष्ठा करा पा रही? लेकिन नहीं करा पाई मैं ऐसा — क्योंकि शर्मा सर के आसपास की स्थितियाँ ऐसी नहीं थीं अतः वह एक नकली, कागजी समाधान होता। साथ ही एक व्यक्ति अध्यापक की करुण मृत्यु से उत्पन्न स्थितियों की निर्ममता भी उकेरनी थी। छात्रगुटों, यूनियन और निहित स्वार्थों के साथ वैयक्तिक स्तर पर व्याप्त संवेदनशून्यता और जड़ता भी उजागर करनी थी... सब कुछ पूरा सच हो, किंतु इन सबके बावजूद व्यक्ति पर से व्यक्ति के पूरे उठ गए विश्वास और संवेदनशून्यता को मन से नहीं स्वीकारा। तब एक परिशिष्ट जोड़ा, जिसका उद्देश्य था — शर्मा सर के दोनों अनाथ बच्चों की शिक्षा-दीक्षा का भार एक मेधावी छात्र के पिता द्वारा स्वेच्छा से ले लिया जाना। यह मात्र अपनी या अपने जैसे बहुत से पाठकों की राहत के लिए। फिर भी खतरा तो उठाया ही, 'समर्थ चरित्र' की स्थापना न करने का।

इसी तरह नारी-जागरण, नारी-चेतना के इस युग में किसी मुखर, दबंग, विद्रोही नारी-चरित्र की प्रतिष्ठा न करने का आरोप भी (मेरे संधिपत्र, 'यामिनी कथा') मुझ पर लगता रहा है। मानती हूँ कि जीवन की स्थितियों को देखने की मेरी दृष्टि ज्यादा गांधीवादी रही है। मैं परिवर्तन और बेहतरी के लिए विद्रोह से पहले विवेक को रखती हूँ। विद्रोह की विध्वंसक भूमिका मुझे जीवनोपयोगी कभी नहीं लगी। अब भी मानती हूँ कि जीवन की बहुत कम स्थितियाँ ऐसी हैं जिन्हें विद्रोह के माध्यम से सुलझाया जा सकता है। जहाँ अभी पाने से पहले देना होगा। विद्रोह से ऊपरी और कानूनी परिवर्तन ही ज्यादा किए जा सकते हैं, शायद किन्हीं हदों तक सुरक्षा और सुविधाएँ भी प्राप्त की जा सकती हैं; किंतु जीवन के चरम काम्य — सुख, शांति और समरसता के संदर्भ में विद्रोह की भूमिका नगण्य ही होती है। व्यक्ति के मन-परिवर्तन, दृष्टि-परिवर्तन के लिए कहीं अधिक संयम, संतुलन और धैर्य की आवश्यकता है। और आज यही जीवन से लुप्त होता जा रहा है। नारी संदर्भों में तो अक्सर यह बात विद्रूप में उड़ा दी जाती है कि युगों से सहते, संतुलन रखते क्या पाया हमने? लेकिन क्या उस 'अति' का उत्तर हम प्रतिस्पर्धी 'अति' से नहीं दे सकते? आवश्यकता इन 'अतियों' के बीच विवेक और संतुलन बिटानेवाली रचनात्मकता की है — स्थितियों और व्यवस्था के विरोध और विद्रोह की भूमिका से पूरी तरह सहमत होते हुए भी व्यक्ति के संवेदनात्मक ह्रास की चिंता भी उतनी ही प्रासंगिक है। नारी-अस्मिता, नारी-मुक्ति और स्वातंत्र्य आज की सबसे बड़ी चुनौती है; लेकिन उससे भी बड़ी चुनौती यह है कि हम विश्व को बचा ले जाएँ। लेकिन प्रकृति और अपनी परंपरा से मिले कुछ बहुत दुर्लभ गुणों को गिरवी रखकर नहीं। अब तक यह अच्छी तरह समझ लेना है कि पुराना सब कुछ पिछड़ा ही नहीं है। इसलिए 'शुभ', स्वस्थ संस्कारों को अंधे कुएँ में डालकर भी नहीं। त्याग, निष्ठा, संयम, धैर्य और विवेक एक युग विशेष के लिए उपयुक्त हों और दूसरे के लिए अनुपयुक्त, ऐसा नहीं है। ये हर युग के सत्य हैं और अगर आज इन्हें नकारा या अस्वीकारा जा रहा है, इन्हें झुठलाने की बचकानी कोशिश की जा रही है तो उस सबसे विद्रोह भी हमारी रचनात्मकता का एक अंग होना चाहिए।

बह गई मैं। हँसेंगे लोग कि फिर वही त्याग, आस्था, सब्र जैसे शब्दों की तोतारटंत। लेकिन मात्र नारी के नहीं, एक संपूर्ण व्यक्ति-संदर्भ में, आनेवाली पीढ़ी के लिए विशेष रूप से इन शब्दों की पुनः पड़ताल और परिभाषा आवश्यक है क्योंकि सारी भौतिक उपलब्धियों के बाद भी जब व्यक्ति बेहद रीता और खाली महसूस करता है, (पश्चिम की अति-भौतिकता के परिणाम और नई पीढ़ी का भटकना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है) तब वह अघाया, ऊबा और थका मन इन्हीं शब्दों के आसपास कही लंगर डालना चाहता है। एक बात और, जैसा प्रायः समझ लिया जाता है, ये शब्द कहीं से भी व्यक्ति की स्वतंत्रता, अस्मिता और चेतना के मार्ग में अवरोधक नहीं वरन सहायक हैं। हमें सही निर्णय की सामर्थ्य और आत्मविश्वास सौंपनेवाले हैं। यह सब कहने का अर्थ 'आक्रोश' और

विद्रोह की भूमिका को नकारना भी बिल्कुल नहीं है। प्रायः मैं स्वयं ऐसे चरित्रों, स्थितियों के सान्निध्य में आई हूँ जब लगा है 'विद्रोह' ही एकमात्र विकल्प है, इस घुटन से मुक्ति का क्योंकि सारे अन्य हथियार निरस्त हो चुके हैं। लेकिन यह निर्णय अन्य सभी अस्त्रों के उपयोग के बाद ही लिया जाना ठीक लगता है।

लेखकीय प्रकृति और संस्कारों का भी बड़ा हस्तक्षेप होता है रचनाधर्म में। उसके बाद उग्र के पड़ाव-दर-पड़ाव मिलते अनुभवों के पाथेय का। जहाँ तक मेरा सवाल है, जैसा कि पहले ही कहा, मानवीय संबंधों की बड़ी ऊष्मा-भरी विरासत मिली है मुझे। जिंदगी जैसे आस्था के फूलों की एक पिटारी-सी, मोहबंधों के रेशमी बूटों से गुँथी-गुँथी। विराग की कल्पना मुझे आतंकित करती है, संन्यास मुझे सबसे बड़ा छद्म या चरम लाचारी की करुण परिणति लगता है।

बस, जिंदगी की यह बहुत तल्ख, बहुत करुण, बहुत मीठी किताब, मैं डूब-डूबकर पढ़ती और उसकी प्रूफ रीडिंग करती रही हूँ। अपने हिसाब से गलत-सही भी महसूस। कितनी चीजें सीधे-सीधे ब्रैकेट में डाल दीं — कितनी जगह कॉमा, सेमीकोलन और डैश से काम चलाया — विराम तो किसी और के ही हाथ में है।

- बी-504, रूनवाल सेंटर,
गोवंडी स्टेशन रोड, देवनार, चेम्बूर,
मुंबई - 400088
□ □

दस्तावेज-अंतमन के

चित्रा देसाई

पिछले चार दशक से सूर्यबाला जी लिख रही हैं। धर्मयुग में धारावाहिक के रूप में छपे उनके पहले उपन्यास “मेरे संधिपत्र” से उन्हें लगातार पढ़ रही हूँ। उनकी ज्यादातर कहानियाँ पढ़ी हैं। मैं ठहरी उनकी पुरानी पाठिका और ये लेख भी एक पाठकीय प्रतिक्रिया ही है। उनकी कोई भी कहानी यदि मैं आज भी फिर से पढ़ती हूँ, तो कोई नया सूत्र मिल जाता है। कितनी परतें खुलने लगती हैं। उनकी कोई भी नायिका श्रृंगार-गहनों से लिस नहीं, रिशतों में लिपटी बेहद संवेदनशील है। गरिमा और मर्यादा को सर्वोपरि मानती, उद्दंड और अराजक कभी नहीं होती। बहुत बार उसका व्यवहार अपने मन से अलग भी हो जाता है क्योंकि वह सबके मन की चिन्ता करती है। घर-परिवार को समर्पित, पर स्वयं को खोजती हुई। मौन रहकर भी बोलती है, पर शोर नहीं मचाती। पूरे विश्व की धुरी तो मानव ही है और पूरा भूगोल मन के विस्तार में फैला है। इसलिए ये कहानियाँ घरेलू होते हुए भी वैश्विक लगती हैं। समस्याएँ तो वही हैं ना! स्त्री-विमर्श का हाहाकार नहीं। विभिन्न विमर्शों के छौंक और तड़के नहीं, पर शोषण के विरुद्ध खड़े होने की हिम्मत है। स्वयं को भी कई बार कठघरे में खड़ी कर अपनी ही अग्निपरीक्षा लेने से नहीं झिझकती। कोई विचारधारा या वाद का रंग नहीं, बस नैतिक नियम, करुणा और सहिष्णुता पर आधारित एक मजबूत पारिवारिक जीवन जीने वाले पात्र के रंग हैं। ईंटों की दीवारों के बीच भीगते मन का गीलापन.....

दरअसल सूर्यबाला जी का लेखन एक कोलाज की तरह लगता है। कहीं संवेदनशील स्त्री घर का शहतीर थामे खड़ी है, तो कहीं दंगों के दौरान मुंबई की हाऊसिंग सोसायटी में फैले डर को भी महसूस करती है। “शहर की सबसे दर्दनाक खबर” में “कमल” को “कमल” बनाने की प्रक्रिया दहला देती है। ‘गृहप्रवेश’ कहानी शहर में बसी दहशत और समाज में फैले आतंक की बात करती है। अंदर का डर बाहरी परिवेश को प्रभावित करता है और बाहर का आतंक मन को। हर कहानी अलग-अलग भाव की है और आपको वहाँ घर के सब सदस्य मिल जायेंगे। युवा लड़की, पत्नी, माँ, दादा-दादी, ताई, मौसी, बाबूजी, घर में काम करनेवाली बाई या लड़का। रिशतों का स्नेह है, तो स्वार्थी मन

भी।

“गौरा गुनवन्ती” कहानी संग्रह की बात करें तो उसकी 12 कहानियाँ 12 रंगों की हैं। इन्द्रधनुष के तो सात रंग होते हैं, पर मन के कितने..? बादल तो आसमान में घूमते हैं, पर धरती का मन कितना भीग जाता है-

गौरी पहली और शीर्षक कहानी की मुख्य पात्र है। वह पैदा हुई एक घर में और पली बढ़ी दूसरे आँगन में। वह अपनी ताई के घर रहती है। सिकुड़ी-संभलती, हर समय सावधान। कहीं ऐसा कुछ न कह दे या कर दे, जिसके कारण उस घर में कोई हलचल हो जाए। आश्रित होने का भय ढोती है, पर ताई के वात्सल्य में भीगी हुई। “अब तो गौरी को रखना होगा”, माँ की मृत्यु के बाद भाभी की आवाज चीरती है। अनाथ गौरी की जिम्मेदारी को लेकर बहुत चैकन्नी हो जाती है। उसे मालूम है, दूसरे घर में स्नेह मिल सकता है, पर अधिकार नहीं। हर समय भाई-भाभी को खुश करने के लिए प्रयासरत। “पाप-पुण्य, भले-बुरे की निर्णय बुद्धि ताई ने ही पनपा दी। सब बच्चे जिद करके पैसे झपट लेते अपने मम्मी-पापा से। मैं यँ ही देखती रहती तो ताई बाद में समझाती, “इन्हें बुरी आदत पड़ जाएगी, चटोरे हो जायेंगे। ताई की सीख पढ़-लिख कर गुनवन्ती बनते हैं, समझी न गौरी बितिया”, गाँठ बाँध ली और गौरी, गुनवन्ती बन गई।

पूरी कहानी यादों का बायस्कोप है। ताई का विश्वास सबके भगवान हैं, इस कहानी का मूल स्वर है और आस्था भी। एक दिन घर में तूफान आ गया तब पता चला कि सम्पन्न राय साहब अपने दूसरे बेटे सुमित की शादी गौरी से करना चाहते हैं और गौरी की शादी राय साहब के घर तय हो जाती है। कुछ लोग जन्म से ही जिम्मेदार होते हैं। गौरी की संवदेनशीलता पूरी कहानी में टंडी बयार सी बहती है। अपनी शादी की रस्मों के बीच बार-बार ताई की कोठरी में आती क्योंकि वहाँ सूनापन है और कोई आता-जाता नहीं। ताई के प्रति कृतज्ञता भाव गौरी के हर काम में छलकता। ताई और गौरी का मौन संवाद अनवरत चलता है।

इस संग्रह की हर कहानी की जमीन अलग है। ‘कपड़े’ में घरों में काम करते बच्चों की विवशता है। जब बेटा बड़ा होकर पहली बार घर से हॉस्टल जाता है तो उस समय की एक माँ की मनःस्थिति की कहानी है, ‘अठारह वर्ष बाद।’ पर जिस कहानी पर मैं अटक जाती हूँ, वह है “कौमुदी एक प्रश्न”- गौरा से अलग खड़ी कौमुदी! गौरा समय के साथ बहती है, वहीं कौमुदी अपने जीवन के मानक स्वयं तय करने की हिम्मत रखती है। समय की धारा में आये बदलाव, पात्रों की जिन्दगी ही नहीं, उनके सपने भी बदल देते हैं। परम्पराओं में घुटती लड़की के विद्रोह की कहानी है। घर से भागी हुई लड़की कला मौसी के घर अपनी जीत-खुशी, सेलिब्रेट करने आती है और प्रश्नों की झड़ी लगा देती है। कौमुदी के घर से भाग कर शादी करने की अफवाह पूरी कोलोनी में फैल जाती है। इतनी

सीधी-सादी लड़की ने इतना बड़ा निर्णय कैसे ले लिया..? मौसी को दया आयी कि “हाँ घर कहाँ इसका”...अर्थात इन दोनों का...कोई घर ही नहीं...और न इतनी जल्दी कोई अपने घर में इन्हें पनाह ही देने वाला है। कौन देगा भला, अपनी मर्जी से सरेआम भाग कर कोर्ट में रजिस्टर्ड शादी कर लेने वाली लड़की और लड़के कोअपनी अप्रतिष्ठा और बेइज्जती के इशतहार छपवाने हैं क्या..?” कौमुदी का स्वर एकदम आक्रामक है और वह सीधी अपनी मौसी से पूछती है, “बूटस! यू टू...कला मौसी आप भी....उन तमाम दूसरे लोगों से इंच भर भी ज्यादा नहीं सोच पायी ना! ...सबकी तरह यही सोचा कि एक सीधी-सादी, सरल, निश्छल लड़की के पास न उसका मन होता है, न आत्मा, न स्वाभिमान और न आक्रोश ही....किसी नेक लड़की के मन पर कोई ठेस नहीं लगती।”

कौमुदी को माता-पिता ने भरपूर प्यार दिया। पिता चाहते थे कि रिटायरमेंट से पहले कौमुदी की शादी हो जाए। 3-4 साल से शादी के लिए दौड़-धूप करते पिता और हर बार साड़ी में लिपटी चाय-नाश्ता देने और बेरंग जवाबों से परेशान थी कौमुदी। वह विद्रोह पर उतर आयी थी और उसी के शब्दों में-“सच्ची-सच्ची बताएँ तो हम इसी से बोर हो गये थे। हर थोड़े दिनों पर मम्मी की वही जरी किनारी वाली साड़ी पहन कर, उनकी शादी के दहेज मिली, चाँदी के पत्रे वाली तश्तरी में पान की गिलौरियाँ और लौंग इलायची लेकर, अपने को देखने आने वालों के सामने पेश करते-करते”। वह प्रश्न करती है कि, “समझ में नहीं आता, उन मोलभाव करने वाले परिवारों को लाखों के दान-दहेज से संतुष्ट कर, मुझे सौंप देने के लिए पापा तैयार थे, लेकिन मात्र उनकी बेटी का हाथ माँगने वाले उदय के मामले में एक रूढ़ और संकीर्ण समाज उनके विवेक के सामने अभेद्य दीवार बनकर खड़ा हो गया। मेरे इतने समझदार, मुझे इतना प्यार करने वाले मम्मी-पापा एक विवेक सम्मत विरोध के, न्यायसंगत निर्णय के पक्ष में क्यों नहीं खड़े हो पाये?” और वह आखिर में कहती है, “हो सके तो मम्मी-पापा को समझाने की कोशिश करिएगा। कला मौसी, यह मेरी बगावत नहीं है, न विद्रोह ही.....बहुत सोचने समझने के बाद अपने लिए तलाशी एक मात्र पगडंडी है।” कौमुदी का रंग गौरा से एकदम भिन्न है।

इसी संग्रह की एक और कहानी “मौज” बिलकुल अलग रंग की है। पुत्र-पुत्रवधू और पोते-पोती में स्वयं की सार्थकता ढूँढ़ती दादी। वे सब समझती हैं और पति को भी समझाती हैं। राजमाता राजाधिराज को आड़े हाथों लेती है- “क्या कर रहे हो? खबर छोड़ो और बच्चों का सुख उठाओ....गैस पर सब्जी चढ़ी है आदित्य और शालू के टिफिन की....जरा गैस धीमी कर दीजिये...अब ऑफिस-स्कूल वालों को तो समय पर ही पहुँचना हुआ ना...हम घर बैठों की देर-सबेर चलती है।” महानगर की दौड़-धूप में वे छायादार वृक्ष बनी रहती हैं। वह जानती हैं कि बच्चे क्यों फिकर करते हैं। दर्द और चक्करों को चकमा देने वाली गोलियाँ लेती हैं, ताकि राजमाता का खिताब कायम रहे। वह पूछती हैं, “अब अगर वृक्ष अपनी शाखाएँ समेट ले जाये तो छतनार, सायादार कैसे समीचीन

कहाएगा? कहा भी है।

“वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै

नदी न संचय नीर।”

इस वृक्ष बनने की प्रक्रिया में स्वयं ही खाद-पानी बनी है ताकि हवा हो, छाया हो और तपती धूप में उसके बच्चे मौज से रह सकें। मौज में रह रहा बेटा हालाँकि इसे अपनी माँ की मौज ही कहता है — “पहले माँ को कितने काम करने पड़ते थे...सुबह अँगीठी सुलगाने से लेकर झाड़ू-पोंछे तक, सब माँ ही करती थी। सिर्फ बर्तन साफ करने के लिए दाईं लगी थी...और अब देखो, बर्तन, झाड़ू, कपड़े, बाथरूम सब दाईं करती है। दिन भर बच्चों के साथ हँसना-खेलना और शाम को उन्हें लेकर पार्क की सैर...मौज में कट रहा है बुढ़ापा।”

ये कहानी नहीं, एक पूरा परिदृश्य है। माँ-बाप छोटे-मोटे चौराहे के काम मैनेज कर लेते हैं, तो उनके कलपुर्जे तो दुरुस्त रहेंगे ही, पर मन भी नहीं उकताएगा...और काम भी क्या बस, जरा सुबह वाक करने की जगह दूध, ब्रेड, अंडे, साग, सब्जी जब जैसी जरूरत हो लेते आना, दोपहर फोन, बिजली बिल के साथ बच्चों के रबर-पेन्सिल, ड्राईंग पेपर...वगैरह भी लेते आना। परिवार बना रहे यही चाह सर्वोपरि...हर हाल में....

एक रंग जो सूर्यबालाजी की कई कहानियों में बिखरा है वह है, निःशब्द प्रेम। स्त्री-पुरुष के बीच एक खिंचाव, अनकहा प्रेम इस संग्रह की “तलाश” कहानी में आया है। ऐसे नितान्त क्षण जो किसी को व्यथित नहीं करते। नेपथ्य में रहता है ये संबंध। मौन। शांत जल में पत्थर नहीं फेंकता। बस कभी-कभी उँगली के स्पर्श से उठती तरंगें जो अपने होने की उपस्थिति दर्ज करती हैं। यहाँ मन परिपक्व भी है और किशोर भी। चेहरे पर मुस्कान भी लाता है और पाँव में गति भी। नायिका को खुद ही इस संबंध का अता-पता नहीं। वह अपने आप से ही संवाद करती रहती है, ? “कब तुम्हारे अंदर के किस सेफ तिजोरी पर छापा पड़ा.....जरूरी नहीं कि हर कुछ की जानकारी तुम्हें हो ही। वैसे टटोलो, छानो अपने मान-मिल्कियत वाले कागजात, लॉकर्स और गुप्त खजाने...देखा....कहीं कुछ भी नहीं; न किसी खजाने के दस्तावेजी प्रमाणपत्र, न इकरारनामे...सिर्फ मिटती-मिटती सी इबारतें...पेन्सिल के हल्के होते निशानों की तरह...बेहद मामूली यादें, इतनी धुंधली कि लगभग मिटी हुई हैं। उनका दिखना, ना दिखना बराबर।”

वह संबंध या कहें वह क्षण एक कैमरे में बंद हैं। कभी-कभी कैमरा धोखा खा जाता है और खोजता है, वह नीला तौलिया। कभी-कभी पता ही नहीं चलता कि कैमरानुमा खिड़की रात-दिन खुफियागिरि करती रहती है। वह रिश्ता जो नेपथ्य में रहता है। नहीं मिलेगा न सही....वैसे भी उससे मिलना क्या और न मिलना क्या...। आहटों में एक

प्रतिध्वनि सी उभरती है, अलगनी के सूखते कपड़ों के बीच एक नीला तौलिया झूलने लगता है। एक व्यवस्थित जिन्दगी में थोड़ा सा कुछ अटपटा, अनकहा रह भी जाए तो क्या हर्ज है! यह तलाश उनकी कहानियों में एक ऐसा दस्तावेज है, जो नितान्त अकेले मन में रहता है- कभी सार्वजनिक नहीं होता है.....

३ ए-३०२, ऑकलैंड पार्क,
यमुना नगर, लौखंडवाला कॉम्प्लैक्स,
अंधेरी (वेस्ट), मुंबई-४०००५३.

□ □

लघुकथा

नामंजूर

सत्य शुचि

माँ का दुःख दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था और एक अहसास से वह बुरी तरह घिर चली थी कि वास्तव में, उसे सुनाई कम देता है...। इसी विषय पर सोचते-विचारते हुए वह दुःखी-दुःखी-सी एक दिन गेट के समीप बैठी थी। उसका बेटा बाहर जाने की तैयारी में था।

— बेटा। ... मेरे कान।’

— हाँ, माँ। मुझे इसके वास्ते एक दिन की छुट्टी बिगाड़नी पड़ेगी...’

— अरे, बेटा...। मगर तुम्हारे सगे-संबंधी यहाँ आते हैं, ठहरते हैं... उनके लिए तो तुम छुट्टियाँ...।’

— माँ...। आपकी और मेरी बातचीत में आप मेरे रिश्तेदारों को काहे को घसीट रही हैं।’

— बेटा, बुढ़ापा है...। मुझे माफ कर दे...।

— माँ! अब तो चाहते हुए भी मैं आपके लिए एक छुट्टी भी नहीं लूँगा...। आखिर, आप अपने आपको क्या समझती हैं?’ माँ को एक झिड़की-सी लगाते वह गेट के बाहर आ चुका था। ... देखते ही देखते, माँ एक गहरे सदमे को झेलती-सी रो पड़ी थी ! गोकि उसकी बात में दम था। माँ ने सोचा ! परंतु, बेटे के रिश्तेदार की तान-राग छेड़कर उसने अपना ही नुकसान किया है न। और बहरेपन का उसका यह रोग अब भविष्य में ताजिंदगी उसे सालता रहेगा।’ और माँ की आँखें भर आईं।

साकेत नगर,

ब्यावर-३०५९०१ (राजस्थान)

□ □

सहज कथाकार सूर्यबाला

डॉ. अरुणा दुबलिश

सूर्यबाला एक सहज कथाकार हैं—बेहद सहज। उनका अग्निपंखी उपन्यास एक गाँव की कहानी है। ग्रामीण परिवेश का इतना यथार्थ और वास्तविक चित्रण प्रेमचंद के साहित्य में ही दिखाई देता है। 'अग्निपंखी' उपन्यास वास्तव में अम्मा और उनके बेटे जयशंकर की कहानी है। पति के जीवित रहते जो स्त्री रानी समान थी, चारों ओर दबदबा रखती थी, पति की मृत्यु होते ही, ज़मीन, जायदाद—रुतबा—सभी से हाथ धो बैठी। उसकी हैसियत नौकरानी से भी बदतर हो गई। ग्रामीण परिवेश और संयुक्त परिवार में यह स्थिति आज भी सत्य है। इसी कारुणिक परिवेश में जयशंकर की दयनीय स्थिति और भी विरूप दृश्य उपस्थित करती है।

शहर का मशीनी और आर्थिक परेशानियों से घिरा जीवन जयशंकर को चिड़चिड़ा और बददिमाग बना देता है। उसकी कोई गलती भी नहीं है। गाँव में भी उसके लिए कोई ठिकाना नहीं और शहर में भी। माँ से जब बोलता है तो जैसे तोप दागता है, माँ तो गा चुकीं पूरी गाथा कि कुक्कर मूतें इस सेहर पर। एक कोठरी में दम घुटा जाता है—जेहल से भी बत्तर। अरे, ये भी कोई देस है। तो क्यों आई मैं बुलाने गया था तुम्हें? जब से आई हो, खुचर कर करके जीना दूभर कर दिया है। (पृ. ५०)

गाँवों में एक भाई के मरते ही दूसरा भाई उसके हिस्से की खेती और जमीन जायदाद सब दबा लेता है—फलतः उस भाई का परिवार पूरी तरह बेसहारा और पर मुखापेक्षी हो जाता है। जयशंकर और उसकी माँ का भी यही हाल है। 'रोजी—रोटी की तलाश में अर्धशिक्षित बेरोजगार जयशंकर गाँव से महानगर में विस्थापित होने के लिए अभिशप्त है। (भूमिका पृ. ७) यदि उसके पिता होते तो निश्चय ही उच्चशिक्षा के लिए उसे शहर भेजते। पर यहाँ तो इंटर पास करने के बाद ही यह समझ लिया गया कि उसे संपूर्ण शिक्षा दे दी गई है और अब उसे नौकरी कर लेनी चाहिए। इतना पढ़ लिखकर क्या वह खेती करेगा, हल चलाएगा—यह ग्रामीण मानसिकता युवाओं को बेरोजगारी की ओर ढकेलती है।

दूसरी भ्रामक धारणा गाँव के कुटुंबीजनों को यह होती है कि शहर गया उनका व्यक्ति बहुत अधिक धन कमा रहा है। 'अग्निपंखी' में गाँव-गाँव के संयुक्त कुटुंबी सदैव यही समझते हैं कि जयशंकर शहर में पैसे हलोरता ऐश कर रहा है और उनके लिए यथेष्ट नहीं भेज रहा। स्वयं जयशंकर उन्हें इसी भ्रम में ही रहने देता है। अपनी फटेहाली न उजागर हो पाने की एक दयनीय तृप्ति, सुख।' (सूर्यबाला : भूमिका, पृ. ८) यद्यपि जयशंकर के धन पर उसके रिश्तेदारों का कोई हक नहीं है, पर वे उसे हर तरह से लूटना चाहते हैं गाँव की जमीन दबाकर भी और उससे पैसा ँँठकर भी।

अम्मा की और भी दुर्दशा है। बेटे के पास रहने को जगह ही नहीं है और गाँव में सगे रिश्तेदार इतना अधिक दुर्व्यवहार करते हैं कि वह मानसिक रूप से अर्धविक्षिप्त हो जाती हैं। 'वे खड़ी-खड़ी पेड़ के तने सी एक ओर जा गिरीं थी। इधर-उधर हिलाया-डुलाया गया, पर दाँत लगा गए थे। खोलने की कोशिश की गई। नहीं खुला तो धीरे-धीरे फुसफुसाहट हुई तिरिया चरित्र। पर देखते-देखते पसीने छूटने लगे तो बैद जी की गुहार हुई। ... बैद जी की दवा पड़ी तो होश आया। ... सबने समझा ठीक हो गई। पर बाद में देखा तो बहुत सांझ तक भी अपनी जगह वैसी ही बैठी रहीं। (पृ. ६३)

माँ बेटे की दुर्दशा का कारण उनके अपने ही स्वजन हैं। बेटे की आय बहुत कम है-यह वह जताना नहीं चाहता और माँ को उसके रिश्तेदार ताने दे देकर विक्षिप्त बना देते हैं। एक तो अपनी गृहस्थी का खर्च ऊपर से माँ की विक्षिप्तावस्था में उनके इलाज का खर्च साथ ही उन्हें सँभालना-जयशंकर और उसकी पत्नी का जीवन बद से बदतर हो जाता है।

सूर्यबाला एक कुशल कथाकार हैं। उनकी लेखनी परिस्थितियों, चरित्रों और घटनाओं का स्वाभाविक चित्रण करती चलती है। इस उपन्यास में उनकी भाषा पूरी तरह ग्रामीण परिवेश को अभिव्यक्त करती है। आश्चर्य है कि हिंदीतर प्रदेश में बैठी लेखिका ग्रामीण भाषा का इतना सटीक और अद्भुत प्रयोग करती है। उनकी भाषा विकासशील, जीवंत और सूक्ष्म एवं जटिल अनुभवों को संप्रेषित करने वाली है। वह सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों के विषयों और चरित्रों को प्रकाशित करनेवाली है। उदाहरणार्थ, 'तिसरकी देवरानी तो छोटी है। उसकी तरफ से कोई हलकानी नहीं। पछाँह की जरूर है, बतकचरी भी बहुत। चिलकारी छोड़कर बोलती है तो टिटिहरियों को भी मात करती है।' (पृ. १७) निष्कर्ष रूप में लेखिका की भाषा आंचलिकता समेटे जनभाषा है। इसमें वैचारिक उलझाव नहीं है। एक परिवार की लड़ाई को सामाजिक संघर्ष के रूप में भाषा ही उसकी प्रासंगिकता देती है। इसी जिल्द का दूसरा उपन्यास है। 'सुबह के इंतजार में' जो कस्बई मानसिकता और निम्न मध्यवर्गीय अहंकार की अभिव्यक्ति करता है। यह लघु उपन्यास 'एमीज चॉयस' नामक सत्य कथा पर आधारित है। लेखिका के शब्दों में

‘अपवाद रूप से ही सही, पर ऐसे सच आज के समय और सिर्फ अपने लिए जीने वाली संस्कृति के बीच भी घटते हैं। ऐसे यथार्थ, रचनात्मकता के सत्य के कीर्तिमानों को ध्वस्त कर जाते हैं।’ (भूमिका, पृ. ९)

कहानी की नायिका एक नाबालिग लड़की है जो दुःखों और अभावों में जीने की आदी हो गई है। ‘हम निम्न मध्यवर्ग के प्रतिनिधि परिवार के थे, उस मध्यवर्ग के जो कहीं पर तथाकथित निम्नवर्ग से भी निम्नतर होते हैं। अंदर से नितांत दयनीय, तिलतिल कर चुकता हुआ, ऊपर से सफेदपोश, इज्जतदार।’ (पृ. ८६)

उनके अभावों का मूल कारण था-परिवार के प्रमुख का कोई नौकरी न करना। वे हमेशा नौकरी की तलाश में ही रहते। कभी-कभी बीच में कुछ-कुछ महीनों की नौकरी लग जाती तो कुछ दिन चैन से कटते, फिर वही दर दर भटकने का सिलसिला शुरू। माँ भी स्कूलों में नौकरी ढूँढ़ती थी-पर ‘ट्रेंड’ न होने के कारण उसे वहाँ नौकरी नहीं मिल पाती। लेकिन दोनों कोई अन्य काम भी इसलिए नहीं करते क्योंकि वह उनकी औकात से छोटा है। उनकी मानसिकता उन्हें छोटे बड़े काम का बोध तो देती है, पर यह नहीं कि बच्चों और परिवार के लालन-पालन के लिए कोई काम अवश्य करना चाहिए। झूठी निम्न-मध्यवर्गीय मानसिकता उन्हें कहीं का नहीं छोड़ती। बेटी को मामा (सौतेले) के घर छोड़ते हैं और वहाँ वह किसी अमानुष का शिकार हो जाती हैं। उसकी सहायता करने के बजाय मामा-मामी उसे वापस भेज देते हैं। जहाँ पहले ही माँ की वर्ग चेतना, उनकी मर्यादा की आँच उन्हें तपा रही थी। काश, हम अपनी सारी तंगहाली के बावजूद खुलेआम जी सकते। माँ लोगों के घर खाना बना पाती, बरतन धो पाती, पिताजी टेले पर फेरी लगा पाते। शायद हम इससे कहीं बेहतर जिंदगी जी पाते।’ (पृ. ११०) किंतु बिटिया की कलंकित स्थिति ने तो उन्हें कहीं का न छोड़ा।

सोलह साल का बुलू अपनी बहिन को इस त्रासदी से निकालना चाहता है। वह उसे किसी बड़े शहर में ले जाता है। उसकी पढ़ने की, डॉक्टर बनने की चाह बहिन पूरी करती है। स्वयं काम करके उसका मेडिकल कॉलेज में ‘एडमिशन’ कराती है। उपन्यास का अंत उसकी त्रासदपूर्ण मृत्यु में होता है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यह उपन्यास निम्नमध्यवर्गीय चेतना से उबरने की एक मासूम लड़की की कामयाब कोशिश है। मानू के अंदर का विद्रोह उसे कुछ कर पाने के अहसास से भर देता है। वह समाज से कुछ नहीं छिपाती। कुछ लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं और कुछ उसकी हिम्मत को, सचाई को स्वीकार करते हैं। दोनों किशोर भाई बहिन जिन्हें ठोकरों ने उदास और बोझिल बना दिया था, जीवन की लड़ाई अकेले ही लड़ते हैं।

एक अन्य चरित्र काकी का भी है, जिनके जीवन में अपार दुःख है, पर वे उस दुःख समीचीन

से लड़ती हैं, ऊपर उठती है। शायद इसीलिए उनके संवेदनशील मन ने अयाचित अविवाहित गर्भवती मानू को हृदय से स्वीकार कर लिया।

सूर्यबाला जी की लेखनी सामान्य कथाओं को सामान्य ढंग से प्रस्तुत करती हैं इसीलिए वे प्रभावशाली बन जाती हैं। हमारे आसपास की कथा को उसी ढंग से कहकर वे हमारे मन को आकर्षित तो करती हैं, पर बेचैन नहीं करतीं। कथा का अंत यद्यपि सुखद नहीं है, पर यह संतोष दे जाता है कि मानू ने बुलू के भविष्य को बनाकर अपने माँ-बाप की गलतियों को सुधार। वह उस वर्ग चेतना से ऊपर उठ गई जिसने उसके परिवार को बर्बाद किया था।

सूर्यबाला विषयानुरूप और पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करती हैं, यद्यपि शिल्प पक्ष उतना सुदृढ़ नहीं है। उन्होंने स्वयं भी कहा है कि वे एक कथा दुबारा नहीं लिखतीं। एक बार में जैसा भी लिखा जाए वैसा ही रखती हैं। पर भाषा व शिल्प संवेदनशील जरूर है, “बुलू माँ की आँखों की दयनीय याचना सह नहीं पाया था। वह उठकर इधर-उधर बिहू से खेलता रहा। रसोई के पीछेवाली ईंटों की मुँडेर पर खड़ा आकाश में उड़ती पतंगों को देखता रहा।” (पृ. ९१)

मानवीय सद्वृत्तियों के प्रति आस्था भी यत्र-तत्र दिखाई देती है। काकी व डॉक्टर के व्यक्तित्व में सद्भाव और आत्मीयता इसी आस्था का रूप है। संवेदनात्मक स्तर पर निम्न मध्यवर्ग के आंतरिक तनावों और अंतर्विरोधों को सजगता एवं गहराई के साथ अनुभव किया है, “माँ की सबसे बड़ी कोशिश हम सबका भूखा तंगहाल न दिखना था। उनका सबसे बड़ा सुख सुखी होना नहीं, सुखी दिखना था। भूखे रहने पर भी भरपेट खाये का सा अभिनय हमारी दिनचर्या में शुमार हो गया था धीरे-धीरे। हम सभी लगातार एक दूसरे को देखते, महसूसते, अभिनय पटु हो गए थे। सुखी संतुष्ट होना हमारे वश में नहीं था, पर दिखना तो था न! हम पुश्तों से पेट भर खाते आए हैं न; हम वही समझे जाते रहे। (पृ. ९०)

मानवीय संवेदना से जुड़े ये दोनों उपन्यास कथाकार की सर्जनात्मकता का बेजोड़ नमूना हैं। सामाजिक विसंगतियों, आर्थिक विषमताओं, निम्न मध्यवर्ग की छटपटाती रेंगती जिंदगी का संवेदनशील चित्रण ही इन उपन्यासों की विशेषता है। इन दोनों उपन्यासों की मानसिक भूमि क्रमशः ग्रामीण परिवेश, महानगरीय जीवन तथा कस्बई जीवन की सहजधर्मी अभिव्यंजना है। ईमानदारी से यथार्थ का चित्रण, कुंठित मानवीय आचरण, मूल्यों की विडंबना, टूटते हुए आत्मीय संबंधों का अंकन यथार्थ की भूमि पर सूर्यबाला जी ने बड़ी कुशलतापूर्वक किया है।

३७१/६ प्रगतिनगर, मेरठ-२५०००१

□ □

सूर्यबाला के उपन्यासों का एक सर्वेक्षण

गंगा शरण सिंह

सूर्यबाला जी अपनी रचना यात्रा के चार दशकों का सफर पूरा कर चुकी हैं। इन चालीस वर्षों के दौरान उन्हें पढ़ते हुए कई पीढ़ियाँ बड़ी हुईं और वे कितने ही नए रचनाकारों की प्रेरणास्रोत रहीं।

इस दीर्घ अंतराल में उनके पाँच उपन्यास, (छठवाँ उपन्यास प्रकाशन प्रक्रिया में है) कई कथा संकलन और कुछ व्यंग्य-संग्रह आये जिन्हें उनके पाठकों द्वारा खूब सराहना मिली। अपनी मंथर किन्तु अनवरत सृजनात्मकता के कारण आज देश के सर्वाधिक लोकप्रिय लेखकों में उनका शुमार है।

सूर्यबाला जी की कहानियों में हमारे समय के सामाजिक और सांस्कृतिक विघटन की ऐसी वास्तविक तस्वीरें होती हैं कि उनकी रचनाओं में कभी कुछ अविश्वसनीय या नितान्त काल्पनिक जैसा नहीं लगता और पाठक बड़ी आसानी से इन कहानियों और पात्रों में स्वयं को ढूँढ लिया करते हैं।

मेरे संधिपत्र उनका पहला उपन्यास है जो 1975 के आसपास धर्मयुग में धारावाहिक प्रकाशन के साथ ही पाठकों में बेहद लोकप्रिय हुआ। बहुत बार ऐसा होता है कि प्रायः कोई एक रचना लेखक की पहचान बन जाती है। सूर्यबाला जी के साथ भी यही हुआ। आज भी पाठक उन्हें बड़ी आत्मीयता से 'मेरे संधिपत्र' के लेखक के तौर पर ही याद करते हैं। प्रकाशन के तैंतालीस वर्ष बाद भी यह उपन्यास कहीं न कहीं चर्चा में रहता है। गोष्ठियों में इसके कथानक पर केन्द्रित सवाल होते हैं और उत्तर देते समय सूर्यबाला जी के चेहरे पर गहन रचनात्मक संतुष्टि के भाव दिखते हैं।

यह उपन्यास शिवा नामक एक ऐसी जहीन लड़की की जीवन गाथा है जो निम्नमध्यवर्गीय परिवार से है। पढ़ाई के अलावा खेलकूद और अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों में भी अक्वल शिवा के लिए जब एक विधुर व्यक्ति का रिश्ता आता है तो उसके मामा उस परिवार की सम्पन्नता और लड़के का स्वभाव देखकर इस विवाह के लिए सहमत हो जाते हैं।

शिवा के इस नए परिवार में पहले से दो बेटियाँ मौजूद हैं। कुछ समय तक शिवा

संकोच और भ्रम में रहती है किन्तु धीरे-धीरे दोनों बच्चियों का सहज प्रेम और आदर उसे सामान्य कर देता है। पति स्वभाव से अच्छे हैं किन्तु मानसिक धरातल पर शिवा से एकदम विपरीत। बावजूद इसके शिवा सबकुछ भूलकर अपने घर परिवार में पूरी तरह रम जाती है। इसी बीच कहानी में रत्नेश्वर नाम के एक और किरदार का प्रवेश होता है जो उसके पति के मित्र हैं। अपनी रुचियों और मानसिक धरातल पर शिवा के समकक्ष। धीरे-धीरे दोनों के मध्य परस्पर आदर और स्नेह का एक अव्यक्त और अदृश्य रिश्ता बन जाता है।

कालांतर में शिवा के जीवन में क्रमशः दो ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिनका दूरगामी प्रभाव उसके जीवन पर पड़ता है। वो एक बेटी को जन्म देती है, और थोड़े दिन बाद ही उसके पति का देहान्त हो जाता है। शिवा अपने सारे दुःखों को दरकिनार कर तीनों बच्चों के पालन-पोषण में खुद को झोंक देती है।

यह पूरी कहानी दो खण्डों में विभाजित है। पहला खण्ड शिवा की दोनों बेटियों का आत्म कथ्य है। ये बड़ी बेटियाँ अपने और माँ के जीवन की सूक्ष्म विवेचना करते हुए अपना मत रखती हैं। उनका मत है कि जब माँ रत्नेश्वर अंकल को पसन्द करती थीं तो उन्हें अपने जीवन को पुनः व्यवस्थित करना चाहिए था। अगले खण्ड में शिवा अपने दृष्टिकोण से सारी बातों को रखती है।

‘दीक्षान्त’ सूर्यबाला जी का एक और लोकप्रिय उपन्यास है जो शिक्षा-संस्थानों में फैली गंदी राजनीति के चेहरे को बेनकाब करते हुए एक कठोर सच से हमें रूबरू कराता है। नितान्त संवेदनहीन समय में तिकड़मी उच्चाधिकारियों के बीच एक ईमानदार शास्त्र बेमेल और उपेक्षित जीवन का दंश झेलता है।

इस उपन्यास के नायक शर्मा जी की नियुक्ति के समय ही गड़बड़ होती है जब उनकी शिक्षा के अनुरूप उचित विद्यालय में नियुक्ति नहीं हो पाती। जहाँ वे नियुक्त होते हैं, वहाँ की हालात बेहद खराब होती हैं। प्रधानाचार्य और शिक्षकों की राजनीति तो अपनी जगह, इस विद्यालय के बच्चों में भी पढ़ने और सीखने का जुनून सिर से नदारद है। उनका ध्यान पढ़ाई के अलावा बाकी उन सारी बातों पर है, जिन पर नहीं होना चाहिए। अब ऐसे माहौल में उच्च आदर्शों के साथ आये हुए किसी अध्यापक के लिए टिके रहना और कुछ सार्थक कर पाना असंभव ही होता।

हम ऐसे दौर में जी रहे हैं, जहाँ किसी भी तरह के आदर्शों या मूल्यों की बात आपको किसी और युग का प्राणी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। शर्मा जी को भी अपने स्वभाव की इन अच्छाइयों का सिला तो भुगतना ही था। हर लड़ाई की एक सीमा होती है। यह समय अच्छाइयों के पराजय का समय है।

व्यर्थ उलझनों और निरन्तर मिलती अवमानना में धिरे शर्मा जी धीरे-धीरे टूटते जाते हैं। विचलन की इसी अवस्था में एक दिन उनका पाँव फिसल जाता है और घातक चोट लगने से उनकी मृत्यु हो जाती है। यह विडंबना भी अराजक तत्वों को अपनी-अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने का अवसर दे जाती है।

सूर्यबाला जी प्रायः समाज के उन पक्षों को अपने लेखन में शामिल कर लेती हैं जो कहीं न कहीं किसी-न-किसी रूप में शोषित या उपेक्षित हैं। दीक्षान्त उनकी कथा-यात्रा का एक अत्यंत महत्वपूर्ण पड़ाव है जहाँ प्रेम, रोमांस, या पारिवारिक झंझटों से परे एक ऐसे विषय को छुआ गया है जिस पर गंभीरता से बहुत कम लिखा गया है। सूर्यबाला जी की यह विशेषता भी है कि एक बार विषय का चुनाव हो जाने के बाद जब वे लिखना आरम्भ करती हैं तो कभी कहीं किसी मोड़ पर अपने कथानक में कोई भी हल्कापन या चमत्कार नहीं आने देतीं। रचना कितनी भी दुखान्त हो जाय, उन्हें अपने पाठक पर विश्वास कायम रहता है और वे वही लिखती हैं, जो उन्हें सही या स्वाभाविक लगता है।

ग्रंथ अकादमी दिल्ली से प्रकाशित 'अग्निपंखी' नामक किताब में सूर्यबाला जी के दो लघु उपन्यास संग्रहीत हैं। पहला- 'अग्निपंखी' और दूसरा- 'सुबह के इंतजार तक'। 'अग्निपंखी' हमारे गाँवों की उस अभिशप्त पीढ़ी की कथा है जो अपनी जड़ों से विस्थापित होने और जीवन की विषमताओं की चक्की में निरंतर पिसने को बाध्य है।

कहानी के मुख्य पात्र जयशंकर के बचपन में ही उसके पटवारी पिता की मृत्यु हो जाती है। जयशंकर की माँ अपने दिवंगत पति की इच्छा पूरी करने के लिए बेटे की पढ़ाई और उसके सफल होने की हरसंभव कोशिश करती हैं। अपने ताऊ और चाचा के एहसानों और उनकी पत्नियों के व्यंग्य बाणों को झेलते हुए कई वर्षों की पढ़ाई के बाद जब नौकरी पाने के उसके तमाम प्रयास असफल हो जाते हैं तो जयशंकर का पहले से अंतर्मुखी स्वभाव और चिड़चिड़ा होता जाता है।

एक दिन वह घर छोड़कर मुम्बई चला जाता है। जिस शहर में फुटपाथ पर रात बिताने के लिए भी स्थानीय गुंडों को हप्रता देना पड़ता हो, वहाँ एक बेरोजगार व्यक्ति इस फुटपाथ पर सोने का भी अधिकारी नहीं रह जाता। इस समस्या से उबरने के लिए जयशंकर वाचमैन की नौकरी करने लगता है। सूर्यबाला जी इस विडंबना का वर्णन मर्मस्पर्शी शब्दों में करती हैं....

'उसके सामने विकल्प एक ही था-खाये या सोए। और भूखे पेट नींद भी भला कहाँ आती है। इसलिए उसने पेट में अन्न डाल, जागना पसन्द किया।' थोड़े दिनों बाद उसे किसी मिल में मजदूर की नौकरी मिल जाती है और रहने के लिए एक झोपड़पट्टी में घर। डेढ़ साल बाद जयशंकर पहली बार गाँव वापस जाता है और खूब तड़क-भड़क और दिखावे के साथ। इसके पीछे हमारी वही मध्यवर्गीय मानसिकता है जो हमें अपनी वास्तविकता समीचीन

को स्वीकार करने की बजाय छद्म जीवन जीने को बाध्य करती है। थोड़े दिनों बाद उसका विवाह हो जाता है और वह अपनी पत्नी के साथ पहले की तुलना में थोड़ा आरामदायक जीवन बिताने लगता है।

गाँव घर के अन्य लोगों की भाँति उसकी माँ भी यही सोचती है कि जयशंकर किसी बड़ी नौकरी और बेहतर हालात में है। जेठानी और देवरानी के निरन्तर तानों और जीवन की एकरसता से ऊबी हुई माँ के मन में बेटे के पास जाकर रहने की स्वाभाविक इच्छा जाग उठती है। जयशंकर कई अवसरों पर टाल मटोल करने में सफल हो जाता है किन्तु आखिरकार एक बार माँ के जिद पकड़ लेने पर उन्हें अपने साथ लाना ही पड़ता है। एक छोटी सी कोठरी में जहाँ पति-पत्नी के लिए भी जगह कम पड़ती हो, एक तीसरे व्यक्ति का प्रवेश उन दोनों को अखर जाता है। माँ मुम्बई पहुँचकर जितना बेटे की हकीकत से आतंकित होती है, उतना ही उन दोनों की उपेक्षा से त्रस्त भी। कहानी का उत्तरार्द्ध अत्यंत दुखद है और पाठक की सहानुभूति जयशंकर से हटकर उसकी माँ पर केन्द्रित हो जाती है जो गाँव से शहर तक परिजनों की अवहेलना और अपमान सहते-सहते मानसिक बीमारी की शिकार होती जाती है।

इस निहायत गम्भीर और घोर यथार्थवादी विषय को सूर्यबाला जी अपनी समर्थ भाषा से पठनीय बनाने में सफल हुई हैं। उनके शब्दों की जादूगरी कहीं-कहीं बरबस ध्यान खींच लेती है.... कहानी के आरंभ में ही जयशंकर के पिता के बारे में हो रही चर्चा का ये अंश देखिए....

‘शहरियों के बीच उठने-बैठने की वजह से जबान चलाने के कायदे भी जानता है। कहाँ चाबुक की तरह सटकारनी है और कहाँ गिलौरी की तरह मुँह में दबा लेनी है, खूब समझता बूझता है।’

‘सुबह के इंतजार में’ एक लघु उपन्यास है जिसमें एक ऐसी युवती की दारुण आत्म-गाथा है, जिसके परिवार की आर्थिक स्थिति बेहद खराब है। यहाँ भी मध्यवर्गीय नैतिकता की वही समस्या, जहाँ हालात निम्न-मध्यवर्ग से भी बदतर, दयनीय, किन्तु ऊपर से सफेदपोश और इज्जतदार दिखने के असफल प्रयास प्रतिदिन की जद्दोजहद हैं। एक दिन इस युवती का भाई बुलू स्कूल से घर लौटकर चाय रोटी लेकर नाश्ता करने बैठता है। थोड़ी देर तक उसके माँ-बाप असहाय नजरों से एक दूसरे को देखकर अंत में उससे कहते हैं कि आजकल पढ़ाई-लिखाई में कुछ नहीं रखा। आशंकित और बेटे का रोटी खाता हाथ थम जाता है और वो अनुरोध करता है कि कम से कम दसवीं की फाइनल परीक्षा तो देने दें। किन्तु वो लोग किसी गैराज पर उसके काम करने की बात पहले ही निश्चित कर चुके होते हैं और कहते हैं कि दसवीं की परीक्षा तो बाद में कभी भी दी जा सकती है। लड़का यह सुनकर और कातर हो उठता है कि दूर होने के कारण उसे रहना

भी उसी गैराज में ही पड़ेगा। एक बहन के शब्दों में बताए जा रहे इस दुखद प्रसंग को सूर्यबाला जी ने बड़ी अर्थपूर्ण मार्मिकता से उकेरा है।

भाई के चले जाने के थोड़े दिन बाद ही रिश्ते के एक मामा-मामी मिलने आते हैं। मामी उसकी माँ से कहती हैं कि वे उसे उनके साथ भेज दें ताकि उनके साथ रहकर वह थोड़ा कामकाज और तौर तरीके सीख ले और वे उसकी शादी की कोशिश भी करेंगी। माँ उसे समझा बुझाकर उनके साथ भेज देती है।

मामा एक फैक्ट्री में सुपरवाइजर थे। ऊपरी कमाई के चक्कर में उनकी सेटिंग टेकेदारों आदि से थी। कभी-कभी कुछ कर्मचारी मिट्टी का तेल, शक्कर या कोयले जैसी चीजें घर पहुँचा जाते थे। एक ऐसे दिन जब घर पर कोई नहीं था, इन्हीं में से एक दबंग और हट्टा-कट्टा शख्स घर पर कुछ पहुँचाने के बहाने आता है और उसके साथ शारीरिक दुष्कर्म करता है। लड़की वापस अपने घर भेज दी जाती है। माँ बाप को लगातार चिंतित और घुलते हुए देखकर वह अपने भाई के साथ मिलकर घर छोड़ने का निर्णय लेती है। इस निर्णय के पीछे एक और कारण यह भी होता है कि वह भाई की छूट चुकी पढ़ाई को वापस शुरू कराने और उसे सफल बनाने के प्रति पहले से ही कटिबद्ध थीं।

यहाँ से दोनों भाई बहन एक नए जीवन-संघर्ष में व्यस्त हो जाते हैं। बहन उसका फिर से एडमिशन कराती है और लोगों के घरेलू कामों को करते हुए किसी तरह जीवन यापन करती है। उनके इस कठिन सफर में कई ऐसे लोग मिलते हैं जिनके भीतर का इंसान कभी नहीं मरता और वो असहाय लोगों की हर सम्भव सहायता या मार्गदर्शन करने में आनन्दित होते हैं। कहानी में आगे चलकर कुछ सुखद और कुछ अत्यंत दुखद प्रसंग भी आते हैं। हालाँकि सूर्यबाला जी ने आखिरी पृष्ठों पर बड़े तार्किक ढंग से दुखान्त को थोड़ा बेहतर और सहनीय बनाने का प्रयास किया है। ऐसे अवसाद उत्पन्न करने वाले कथानकों को पठनीय बनाना उनके आत्मीय लेखन से ही सम्भव हो पाता है।

रुम नं. ११, दुर्गा निवास,
ताड़वादी, अन्नपूर्णा टॉवर के सामने,
अंबरनाथ (पूर्व), ठाणे
महाराष्ट्र-४२१५०१
□ □

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का कटु यथार्थ : दीक्षांत

डॉ. श्यामसुंदर पाण्डेय

सूर्यबाला जी हिन्दी साहित्य की एक ऐसी लेखिका हैं जो बिना किसी आवाज के बिना किसी झंडे का सहारा लिए और बिना किसी 'वाद' की घोड़ी पर सवार हुए ही अपनी लेखनी के बल पर वर्तमान के भारतीय साहित्यकारों में अपना शीर्ष स्थान निश्चित कर चुकी हैं। उनकी कहानियाँ, उनके व्यंग्य और उनके उपन्यास बड़ी सरलता पूर्वक अपने आस-पास के ही किसी ज्वलंत मुद्दे को इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं जैसे किसी चौराहे पर लम्बे समय से ढकी किसी मूर्ति का अनावरण कर दिया गया है और लोग उस चिरपरिचित चेहरे को बार-बार देखने को उत्सुक हो रहे हैं। सूर्यबाला जी का प्रसिद्ध उपन्यास 'दीक्षांत' ठीक इसी प्रकार हमारी शिक्षा व्यवस्था की विडम्बनाओं को अनावृत्त करने वाला उपन्यास है। हम सभी इस व्यवस्था से अवगत हैं कि स्वतंत्र भारत की सरकार ने शिक्षा व्यवस्था की जिम्मेदारी का एक बड़ा हिस्सा राज्य सरकारों को भी दे दिया। शिक्षा को समाज सेवा का नाम देकर सरकार के साथ-साथ निजी रूप में पूँजीपतियों द्वारा शिक्षालयों की स्थापना की जाने लगी। इन सबका परिणाम कुछ सकारात्मक तो अवश्य रहा लेकिन इस व्यवस्था ने शिक्षा के क्षेत्र को पूर्णतः व्यावसायिक बनाने का कार्य भी किया। धीरे-धीरे शिक्षा के मंदिर कहे जाने वाले शिक्षालय पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतलियाँ बन गये। अपने सगे-सम्बन्धियों को नौकरी देने से लेकर अयोग्य विद्यार्थियों को उत्तीर्ण करने-कराने तक के कार्यों में इनका हस्तक्षेप होने लगा। परिणाम वही हुआ जो दीक्षांत उपन्यास के प्रमुख पात्र विद्याभूषण शर्मा का हुआ।

राजनीतिक कवायद करने वाले चंद्रभान सिंह, अमीर बच्चों को अधिक अंक देकर उत्तीर्ण कराने वाले गुप्ता सर तथा मिसेज सब्बरवाल, मिस रीना सूरी और निखिला दास जैसी अमीरों की साहबजादियाँ ही शिक्षण क्षेत्र की आदर्श बनने लगीं। प्रिंसिपल राजदान जैसे लोग मैनेजमेंट के इशारे पर नाचने लगे और अनचाहा कार्य करके लोगों की गालियों के अधिकारी बनने लगे। विद्यार्थी संगठनों के नाम पर पढ़ाई-लिखाई से दूर रहने वाले नवगुन्डों से प्राध्यापक डरने लगे। ऐसे में विद्याभूषण जैसे विनयी और विद्वान व्यक्तियों के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कहीं कोई स्थान नहीं रह गया। अन्य क्षेत्रों की तरह शिक्षण क्षेत्र भी

अब चापलूसी और वाह्याडम्बरोँ का अड्डा बनता गया। इस उपन्यास में लेखिका ने शिक्षा व्यवस्था के वाह्यांतर और आभ्यंतर उन सभी पक्षों के यथार्थ को उठाया है जिन्हें आज का विद्यार्थी और प्राध्यापक जी रहा है। लेखिका इस उपन्यास की भूमिका में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं कि 'मैंने 'दीक्षांत' के कथानायक 'शर्मा सर' के माध्यम से आज के एक ईमानदार, निष्ठावान, विनम्र और सच्चे व्यक्ति की यातना-कथा अपने करुणतम लेकिन विश्वसनीय रूप में उतारी है। शर्मा सर के माध्यम से लेखिका ने जिस संघर्षरत पात्र की सर्जना की है वह आज के समाज का जीवंत उदाहरण हैं। इतना ही नहीं विद्यार्थियों को मिलने वाली स्वतंत्रता के नाम पर दिन प्रतिदिन उनमें बढ़ती उदंडता, ट्यूशन की बढ़ती प्रवृत्ति, इसकी वजह से अध्यापक वर्ग का निरंतर घटता मान-सम्मान और शिक्षकों के बीच कनिष्ठ-वरिष्ठ जनित ईर्ष्या-द्वेष आदि के तमाम नकारात्मक पक्षों को उद्घृत कर लेखिका ने वर्तमान शिक्षा व्यवस्था का यथार्थ प्रस्तुत कर दिया है।

छोटे-बड़े कुल पाँच खण्डों में विभक्त इस उपन्यास का प्रथम खंड 'परिसर' महाविद्यालयीन कैम्पस पर आधारित है। उपन्यास का प्रारम्भ शर्मा सर द्वारा अपनी शर्ट पर लगे कीचड़ धोने के प्रयास से होता है। वह कीचड़ महाविद्यालय के ही एक छात्र बरुआ द्वारा जानबूझकर कार द्वारा उछाला गया है। इस प्रथम दृश्य में ही सूर्यबाला जी ने एक नए अध्यापक के मानसिक द्वंद को जिस रूप में उद्घाटित किया है, वह उनके मनोवैज्ञानिक पारखी होने का परिचायक है। शर्मा सर बच्चों द्वारा की गई शैतानियों की शिकायत प्रिंसिपल या किसी अन्य से नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा करना 'अपने हाथों अपनी इज्जत उछालना है।' विद्यार्थियों द्वारा अध्यापकों के अपमान की ऐसी घटनाएँ शर्मा सर के अतिरिक्त थोड़ी बहुत अन्य प्राध्यापकों के साथ भी घटती रहती हैं लेकिन कोई प्राध्यापक उन पर प्रतिबन्ध लगाने की बात नहीं करता बल्कि, सभी विद्यार्थियों की ऐसी गलतियों को नजरन्दाज करते हैं क्योंकि कक्षा में विद्यार्थियों की उदंडता अध्यापक की कमजोरी मानी जाती है न कि विद्यार्थियों की शैतानी। विद्याभूषण जिस परिवेश के विद्यार्थी रहे हैं वहाँ शिक्षक सिर्फ और सिर्फ सम्मान का पात्र होता है। बिसारिया कॉलेज के विद्यार्थियों की यह उदंडता उन्हें अन्दर तक मरोड़ देती है। उनकी चलती तो ऐसे विद्यार्थियों को अवश्य दंड देते लेकिन यहाँ तो ऐसे ही विद्यार्थियों को प्राध्यापक सिर चढ़ाए हुए हैं। यही कारण है कि कक्षा में विद्यार्थी जब विद्याभूषण शर्मा को परेशान करते हैं तो उनके मन में अंतर्द्वंद उठने लगता है - 'नहीं, अब बात हद से गुजर चुकी है। जाना ही होगा, सुपरवाइजर के पास! लेकिन क्या शिकायत करना ठीक होगा? पागलपन मत करो। देखा नहीं, यादव, बंसल, और वह, बुक कीपिंग वाली सेनगुप्ता को-क्लास में लाख शोर मचाने और बेइज्जत होने पर भी सुपरवाइजर और प्रिंसिपल के सामने यही कहते हैं, 'जी कुछ नहीं हुआ, नो प्रॉब्लम सर! वो तो जरा हम जान-बूझकर ही बच्चों के साथ थोड़े हँसी - मजाक की गुंजाइश रखते हैं। बेचारे बच्चे भी पढ़ते-पढ़ते बोर न हो जाएँ, इसलिए -

‘यथार्थ को छिपाने का यह प्रयास ही आज के विद्यार्थियों में’ बढ़ती उद्वेगता का एक मुख्य कारण है।

दूसरी तरफ जब शिक्षक विद्यार्थियों द्वारा पूरी तरह त्रस्त कर दिया जाएगा तो वह गुरु की गुरुता को त्याग कर अपनी कक्षा के विद्यार्थियों को येन केन प्रकारेण प्रसन्न करने की कोशिश करेगा। शर्मा सर के लिए यह सब असह्य है। परिस्थितियाँ उन्हें ऐसे उद्वेगों को दंड की अनुमति नहीं देती। तंग आकर वह जब कुछ अशिष्ट बच्चों को कक्षा से बाहर निकालते हैं तो सिर्फ तीन विद्यार्थियों को छोड़कर शेष सभी बाहर चले जाते हैं। उनका अधीर मन सब कुछ छोड़ कर चले जाने के लिए उद्यत होता है तभी पारिवारिक जिम्मेदारियों का चाबुक उड़ते मन को जमीन पर उतार देता है। बेरोजगारी का बोझ उन्हें उस चट्टान की तरह दबाए हुए है जिसके नीचे से निकलने के लिए हाथ-पैर हिलाने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। ‘दुनिया में हर काम संभव है’ ऐसा सोचकर ही परमानेंट हो जाने के चमत्कार की आशा में वह भी जी रहे हैं। यहाँ लेखिका ने ऐसे प्राध्यापकों का चित्रण भी किया है जिनके राजनीतिक रसूख के कारण न कोई उन्हें पढ़ाने को कहता है और न ही वे पढ़ाने का कार्य करते हैं। प्राध्यापकों के स्टॉफ रूम में अलग-अलग टेबल पर बैठने वाली प्राध्यापिकाओं और प्राध्यापकों का चित्र जिस जीवन्तता के साथ लेखिका ने प्रस्तुत किया है वह तो शायद किसी महानगर के लगभग सभी महाविद्यालयों में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। प्राध्यापक वर्ग की पारिवारिक और सामाजिक रसूख के आधार पर ही उन्हें महाविद्यालय द्वारा सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। मिसेज सब्बरवाल को बार-बार मिलने वाली लम्बी छुट्टियों के पीछे उनकी सामाजिक हैसियत का ही विशेष हाथ है। इसी खंड में विद्याभूषण की दक्षता, ग्रामीण जीवन के अध्यापकों की शिक्षण व्यवस्था और गाँव से शहर आये हुए युवक की समस्याओं का भी चित्रण किया गया है।

उपन्यास के दूसरे खंड ‘यंत्रणा के कोण’ में एक विद्वान और कर्तव्यनिष्ठ युवक विद्याभूषण शर्मा द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में जीविका की तलाश और अपने पारिवारिक जीवन की चुनौतियों से जूझने का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। पत्नी और दो बच्चों का परिवार अस्थायी नौकरी के वेतन से जब नहीं चलता तो शर्मा सर ट्यूशन का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। अमीरों द्वारा ट्यूशन टीचर के प्रति अध्यापक जैसा कोई सम्मान का भाव नहीं है। उनके लिए अन्य नौकरों जैसा ही वह अध्यापक भी है और उससे काम भी उसी मानसिकता के साथ कराए जाते हैं। यही कारण है कि मिसेज ठक्कर कभी बच्चों के आइसक्रीम खाने तक शर्मा सर को इंतजार करने के लिए कहती हैं, कभी बहन के यहाँ संतरा पहुँचाने की बात कहती हैं तो कभी तेल का डिब्बा लाने और रजिस्ट्री करने का आदेश देती रहती हैं। उनके 'दिल में यही जोड़-घटाना चलता रहता है कि दो बच्चों को एक साथ पढ़ाने का ट्यूशन शुल्क आखिर क्यों दिया जाए। यही सोचकर वह कुछ न कुछ काम उनसे लेती रहती हैं। शर्मा सर का मन इस अपमानजनक व्यवहार के प्रति भी

विद्रोह करता है लेकिन उन्हें दिखाई देती है-पंद्रह रुपए मासिक का लाभ, पत्नी की मस्की हुई ब्लाउज, बेटे का फटा हुआ बैग, अपने टिफिन का पुराना डिब्बा, जिन्हें बदलना हिन्दी अध्यापक के अस्थाई नौकरी के भरोसे कभी संभव नहीं है। इन्हीं लाचारियों के कारण ट्यूशन के अभिभावकों के अपमानजनक व्यवहार के बाद भी वे स्वयं को ट्यूशन पढ़ाने से रोक नहीं पाते। सिद्धांत और व्यवहार की इस लड़ाई में उनका सिद्धांत बार-बार हारता है। आखिर जीना तो व्यवहार के साथ ही है। जीवनयापन की लाचारी और उच्च सिद्धांतों के बीच की उठापटक में फँसे शर्मा सर के माध्यम से महानगरों में रोजगार के लिए संघर्ष करते उन तमाम उच्च शिक्षित युवकों की दुखभरी कहानी लेखिका ने प्रस्तुत कर दी है जो आज भी अपनी डिग्री और अपनी कर्तव्यनिष्ठा के कारण 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का' वाली स्थिति में जी रहे हैं।

यहाँ लेखिका ने ट्यूशन अध्यापकों के साथ अभिभावकों द्वारा किये जाने वाले अपमानजनक व्यवहार के साथ-साथ इन अध्यापकों की तुच्छ प्रवृत्ति का भी यथार्थ चित्रण किया है जिसमें वे अभिभावकों को खुश करने के लिए अपने पास ट्यूशन पढ़ाने वाले छात्रों को अधिक अंक देने तक की निकृष्टता दिखाते हैं। अध्यापकों के इस पक्षपातपूर्ण व्यवहार के मासूम बच्चों पर पड़ने वाले प्रभाव को भी सूर्यबाला जी ने बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। 'देवेश को ज्यादा नम्बर दें तो भी मुझे कोई शिकायत नहीं लेकिन मेरे नम्बर काटते क्यों हैं?' शर्मा सर के बेटे विनय के माध्यम से यह प्रश्न उठाकर लेखिका ने ऐसे निकृष्ट अध्यापकों के प्रति बाल मन के विद्रोह का परिचय दिया है। इतना ही नहीं प्राध्यापकों की आंतरिक खींचतान की गलियों में प्रवेश कर यहाँ लेखिका ने उनके यथार्थ का भी पर्दाफाश कर दिया है। हिन्दी विभाग के सीनियर अध्यापक थर्ड डिविजनर गुप्ता जी पी-एच.डी. और विद्वान शर्मा सर को बिलकुल पसंद नहीं करते। शर्मा सर के पढ़ाने की शैली में कोई कमी न होने पर भी अपनी वरिष्ठता की धौंस जमाने के लिए बिना किसी गलती के भी वह जब-तब उनको डांटते रहते हैं। इतना ही नहीं कक्षा में पढ़ाने के लिए विषय निश्चित न करके भी वह उन्हें परेशान करने का प्रयास करते रहते हैं और छोटी-छोटी बातों को बड़े मिर्च-मसाले के साथ लोगों के बीच प्रचारित-प्रसारित करते रहते हैं। 'जूनियर अस्थाई प्राध्यापक उनसे ज्यादा योग्यता वाला और लियाकत वाला हो, वह गुप्ता जी की तरह श्वान का अर्थ गदहा और करकट का अर्थ कुत्ता न बताकर सही-सही शब्दार्थ बताता हो-और ऊपर से गुप्ता जी के पहले। बरुआ जैसे लड़कों को फेल करता हो तो उसका जीना हराम होगा ही। अब तो गुप्ता जी और चन्द्रभान सिंह जैसे प्राध्यापक ही विद्यार्थियों के बीच लोकप्रिय बनने लगे हैं क्योंकि इनके साथ पढ़ाई छोड़कर शेष सभी सुविधाएँ मिलती हैं। आज हमारे लिए यह भी एक विचारणीय विषय है कि जिस वर्ग को युवा पीढ़ी के मार्गदर्शन की जिम्मेदारी दी गई थी वही उन्हें अपनी स्वार्थ साधना हेतु भ्रमित करने का कार्य कर रहा है।

शर्मा सर इस उपन्यास के नायक अवश्य हैं लेकिन लेखिका ने शिक्षा जगत की इन छोटी-छोटी सच्चाइयों की तह में जाकर जिन मुद्दों को उठाया है वे सभी मिलकर ही आज के इस भ्रष्ट शिक्षा व्यवस्था का चित्र निर्मित करती हैं, जिसके समक्ष विद्याभूषण शर्मा जैसे तेजस्वी और मेधावी युवक को घुटने टेकने पड़ते हैं। लेखिका भले कहती रहें कि 'शर्मा सर ने आत्महत्या नहीं की' लेकिन पाठक के समक्ष तो उनका बेगम-बुर्जी से नाले में गिर जाना नहीं बल्कि अपनी परिस्थितियों से अब लड़ न पाने की असमर्थता के कारण जीवन से पलायन है। शर्मा सर की यह हार उन तमाम मेधावी युवकों की हार है जिनके पास किसी अमीर की, किसी मंत्री की अथवा किसी बड़े अधिकारी की पहचान नहीं है बल्कि अपनी विद्वत्ता के बल पर अपनी रोजी-रोटी की तलाश में दर-दर भटक रहे हैं और ठोकरें खा रहे हैं। बड़ों की नजदीकियाँ ही आज की सबसे बड़ी विद्वत्ता बन गई है। जिस पी-एच.डी. की डिग्री को शर्मा सर बड़े गर्व से देखते थे वही आज उनके लिए संकट बन गई है क्योंकि सीनियर कॉलेज में उनके लिए नौकरी नहीं है और जूनियर कॉलेज में उन्हें ओवर क्वालीफाईड कह कर अयोग्य घोषित कर दिया जाता है। शर्मा सर का मन यहाँ भी विद्रोह करता है। डिस्सूजा जैसे प्राध्यापक शर्मा सर को प्रोत्साहित अवश्य करते हैं लेकिन जबानी खर्च से तो जिन्दगी चल नहीं सकती। बड़ा साहस जुटाकर शर्मा सर प्रिंसिपल के पास जाते हैं लेकिन वह बड़ी ही निष्ठुरता पूर्वक स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं - देखिये हिन्दी प्राध्यापकों की स्थिति काफी नाजुक है-स्कोप ही नहीं-सोच लीजिये, विद्यार्थी शिक्षा के माध्यम से सबसे पहले रोजी-रोटी की समस्या हल करना चाहते हैं।' लेखिका द्वारा यहाँ हिन्दी के सम्बन्ध में सामाजिक दृष्टिकोण का यथार्थ प्रस्तुत किया गया है। 'चक्रव्यूह' खंड में मैनेजमेंट के एक करीबी को नौकरी पर रखने के लिए जिस ढंग से शर्मा के विरुद्ध बदनामी की योजना रची जाती है और जो-जो आरोप लगाये जाते हैं वह सब पूर्व नियोजित हैं तथा उन्हें नौकरी से निकालने का एक बहाना मात्र है। यहाँ लेखिका ने विद्याभूषण को जिस मानसिक यंत्रणा से गुजरते हुए दिखाया है वह उच्च शिक्षा प्राप्त लाखों उन भारतीय युवकों की मानसिक यंत्रणा है जो रोजगार के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

स्वयं शर्मा सर का मन विद्रोह करता है 'कौन ऐसा है जो इस दहशत और आतंक में नहीं पिस रहा है। जो मुझ पर गुजर रही है, वही लाखों करोड़ों पर गुजर रही है। बी.ए., एम.ए. की डिग्रियों का पुलिंदा लिए सूखी आँखें, पपड़ाए होठों, काम तलाशते युवकों पर, बॉस की झिड़की खाते क्लर्कों पर बारह-बारह घंटे की मजदूरी और बेगार करते मजदूरों पर, पढ़ाने के नाम पर, मालदार लड़कों की चाकरी बजाते ट्यूटर्स पर-कुल मिलाकर रोजी-रोटी की जुगाड़ में जूझते हर आदमी पर-ऐसा ही होता है हर किसी के साथ, हर आदमी ऐसे ही जीता जाता है। सिर्फ-सिर्फ कुछ अदद लोगों को छोड़कर।' निश्चित ही यह एक चक्रव्यूह है जिसके बीच फँसा एक बहुत बड़ा शिक्षित वर्ग अपने रोजी-रोटी की तलाश में भटक रहा है। 'प्रयाण' खंड में शर्मा सर के जीवन का अंत होता है। यद्यपि कि

लेखिका उनकी मृत्यु को आत्महत्या न मानते हुए बेगम बुर्जी से गिर जाना बताया है लेकिन वह मृत्यु समाज के अनेक पक्षों का यथार्थ एक साथ प्रस्तुत करती है। अध्यापकीय राजनीति, छात्र राजनीति, कुछ दिखावे की संवेदना और कुछ सचमुच की संवेदना के साथ - साथ ऐसी समस्याओं के समूल विनाश के उपायों की तरफ भी संकेत किया गया है। विद्यार्थियों की हुल्लड़बाजी से विचलित प्रिंसिपल राजदान विद्यार्थियों के साथ इस पूरी व्यवस्था को बदलने की बात सोचते हैं - 'तमाशबीनी ही करनी है तो जाकर कॉलेज कमेटी के हर मेम्बर के दरवाजे पर क्यों नहीं करते? प्रेसीडेंट ही क्यों, उस विभागीय सेक्रेटरी, मंत्री और तमाम-तमाम दबाव डालने वालों पर क्यों नहीं, जो कॉलेज में हो रही शिक्षकों की नियुक्तियों को लेकर इतने अनुचित दबाव डालते हैं तथा उनके कैडिडेट के लिए असमर्थता जाहिर करने पर सीधे-सीधे ग्रांट बंद कर देने की धमकी दे डालते हैं।' प्रिंसिपल राजदान की यह पीड़ा महाविद्यालयों के प्रशासकीय पदों पर बैठे लोगों की सामर्थ्यहीनता और उनके पीछे कार्य करने वाले प्रबंधन तंत्र से लेकर सरकार एवं सरकारी अधिकारियों के यथार्थ को चित्रित करती है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि आज की शिक्षा व्यवस्था की दुर्गति के पीछे यह सम्पूर्ण तंत्र दोषी है। उपन्यास के अंतिम खंड 'लोग' में लेखिका ने शर्मा सर की मृत्यु के बाद लोगों की प्रतिक्रियाओं का चित्रण किया है। ये प्रतिक्रियाएँ किसी की मृत्यु के बाद लोगों द्वारा लगाई जाने वाली तमाम अटकलों की तरफ संकेत करती हैं। शर्मा सर की मृत्यु के बाद जहाँ कुछ लोग चंदे एकत्र कर उनके परिवार की मदद की बात करते हैं, तो कुछ अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंकने और किसी व्यक्ति विशेष को बदनाम करने की योजनाओं में लगे रहते हैं। छात्र नेता के नाम पर कल तक जो लड़के शर्मा सर का मजाक उड़ाते रहते थे, वे ही अब उनके प्रति हमदर्दी प्रदर्शित कर रहे होते हैं और सभी प्रिंसिपल राजदान को भला-बुरा कहते हैं। कुंती के रूप में लेखिका ने यहाँ एक ऐसे पात्र की सर्जना की है जो पूरे उपन्यास में सभी परिस्थितियों का मूकदर्शक बनी रहती है। वह घर की सभी जिम्मेदारियों का निर्वाह तो करती ही है बल्कि पति की लाचारी को समझते हुए जीवन के हर मोड़ पर समझौते भी कर लेती है। एक नारी के रूप में वह अपने जीवन के कोई सपने नहीं देखती। अभावों के बीच वह प्रारम्भ से ही टूटने लगती है और अंत तक टूटती ही चली जाती है जैसे इस धरती पर केवल अभावों से ही उसकी मित्रता रही हो। फिर भी, उसे अपने बेटे की डबडबाई आँखों में एक मद्धिम जोत की परछाईं सी झलमलाती दिखाई देती है।

सूर्यबाला जी का यह उपन्यास शर्मा सर जैसे उच्च शिक्षा प्राप्त एक मेधावी युवक की रोजगारपरक व्यथा-कथा तो है ही शिक्षाजगत की उन तमाम अंदरूनी बातों का भी खुलासा करता है, जिससे समाज का सामान्य आदमी पूर्णतः अनभिज्ञ रहता है। यह उपन्यास इस बात की ओर संकेत करता है कि जिस शिक्षा व्यवस्था को हम सम्मान और समाज सेवा की नजर से देखते हैं उसने अब एक बड़े रोजगार का रूप ले लिया है और

जिन अध्यापकों को गुरु एवं पूज्य मानकर सम्मान की नजर से देखा जाता है वहाँ पहुँचने के लिए अब विद्वता की आवश्यकता नहीं बल्कि राजनीतिज्ञों, अधिकारियों अथवा पूँजीपतियों का कृपापात्र होना आवश्यक बन गया है। हमारे शिक्षलय ऐसे लोगों का जमावड़ा हो गये हैं, जो अपने कर्तव्यों की जगह इर्ष्या, द्वेष, वाह्य आडम्बर आदि में आकंठ डूबे हुए हैं। ऐसे में विद्याभूषण जैसे तेजस्वी युवकों के लिए यहाँ कोई स्थान शेष नहीं रह गया है। भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास पूर्णतः समृद्ध कहा जा सकता है। भाषा की सरलता और सुबोधता ने इस उपन्यास के अभिव्यक्ति की सामर्थ्य को द्विगुणित कर दिया है।

हिन्दी विभाग
बिड़ला महाविद्यालय,
कल्याण (थाने) महाराष्ट्र
□ □

यामिनी कथा : संघर्ष की अंतहीन व्यथा-कथा

डॉ. माधुरी छेड़ा

सूर्यबाला जी की रचना-यात्रा का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है 'यामिनी-कथा'। एक तरह से यह रचना स्त्री-विमर्श को ही प्रस्तुत करती है, पर उस रूप में नहीं जो आजकल प्रचलित है। एक उग्र विरोधी तेवर। सूर्यबाला के यहाँ स्त्री-विमर्श का स्वर पुरुष-विरोध में नहीं उभरता। बेशक वे स्त्री के सम्मान, स्वतंत्रता, मुक्ति की पक्षधर हैं। पर स्त्री की शोषित स्थिति के लिए वे केवल पुरुष को उत्तरदायी नहीं समझतीं। इसीलिए उनके स्त्री-विमर्श में भी एक संतुलन दिखाई देता है। यहाँ यामिनी की कथा भी उसकी अतृप्त कामनाओं, आकांक्षाओं, स्वप्न-भंग और पीड़ा की कथा है। इसके लिए उत्तरदायी पुरुष ही हैं। पर उपन्यास का घटना-क्रम, पात्रों में आया परिवर्तन इस संतुलन का प्रमाण है।

यामिनी इस रचना का मुख्य केंद्र है। एक सुशिक्षित और संवेदनशील आधुनिक नारी के मानसिक ऊहापोह, दर्द, और उदासी को इस उपन्यास की रचनात्मकता का हिस्सा बनाकर सूर्यबाला ने स्त्री-मन के अनेक अनदेखे प्रकोष्ठों को खोलकर पाठक के रूबरू किया है।

हमारी पारंपरिक सोच में स्त्री की संतुष्टि केवल एक सजे-धजे घर, कपड़ों और गहनों में देखी गयी है। पर आधुनिक स्त्री की मानसिक बुनावट शिक्षा, और आधुनिक दृष्टि के कारण पूरी तरह बदल गयी है। भौतिक उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण होते हुए भी मानसिक तोष के लिए पर्याप्त नहीं हैं। समकालीन जीवन के एकल परिवारों ने स्त्री के जीवन में एक ऐसी रिक्ति भर दी है, जिसे जीवन साथी ही अपने व्यवहार से भर सकता है। इस नारी की आवश्यकताएँ और प्राथमिकताएँ बदल गयी हैं। अब केवल भौतिक सुख उसे संतुष्ट नहीं कर पाते। उसकी संवेदना की धार अधिक तेज हो चुकी है। शरीर-सुख से परे एक स्त्री के रूप में सम्मान युक्त स्वीकृति उसकी आवश्यकता है। उन स्त्रियों का जीवन शायद ज्यादा आसान था जिनके लिए संतुष्टि आभूषणों और कपड़ों तक सीमित थी। आज की सजग और बुद्धिमान स्त्री के लिए जीवन और भी जटिलताएँ लेकर आया है। आज की स्त्री के जीवन-दायरे में भौतिक व शारीरिक स्थितियों के स्थान पर मानसिक स्थितियाँ अधिक महत्वपूर्ण हो चुकी हैं। इसमें कोई शक नहीं कि शिक्षा और आधुनिक विचारसरणी ने स्त्री समीचीन

की बुद्धि को तेज धार दी है, उसके आत्मविश्वास को बढ़ाया है, उसके व्यक्तित्व को अधिक सशक्त व समर्थ बनाया है, पर उसके जीवन का दूसरा पहलू उस ट्रेजेडी में भी है कि इस सबके बावजूद उसके आत्मतोष के केंद्र बदल गए हैं। उसी में आधुनिक जीवन की विडंबना उजागर होती है। यामिनी के जीवन की त्रासदी को भी इसीमें देखा जा सकता है।

यामिनी एक गहरे भँवर में धँसी हुई है और धीरे-धीरे और गहरे धँसती जाती है। ये भँवर हैं पहला पति विश्वास, दूसरा पति निखिल, पुतुल जो पहले पति का पुत्र है और चुनचुन जो दूसरे पति का पुत्र है।

अपने पहले पति विश्वास के साथ यामिनी के संबंध इसीलिए सहज नहीं हो पाते कि विश्वास यामिनी को सिर्फ एक देह के रूप में ग्रहण करता है। मर्चेट नेवी का यह अफसर अधिकांशतः सफर पर ही होता है। वर्ष भर में कुछ ही दिनों के लिए घर आता है। यामिनी यहाँ दोहरे तनाव से गुजरती है। एक तो पति की लंबी अनुपस्थिति और फिर जिन थोड़े दिनों के लिए वह उपस्थित भी होता है तो उसका सारा व्यवहार शुष्क, देहभोग तक सीमित और एकतरफा है। यामिनी के शरीर का उपभोग कर वह छुट्टी पा लेता है। यहाँ यामिनी उसके लिए एक ऐसी वस्तु भर है जिसका जरूरत के मुताबिक उपयोग कर लिया और बस! एक पति के रूप में वह कभी यह जानने की कोशिश नहीं करता कि उसकी लंबी अनुपस्थिति से उसकी पत्नी पर क्या बीतती होगी या एक पत्नी के रूप में उससे यामिनी की क्या अपेक्षाएँ हैं। पत्नी के सुख-संतुष्टि से वह अपने आपको कहीं जोड़ता नहीं है। उसके इस व्यवहार से यामिनी काफी आहत होती है। विश्वास में कोमलता, संवेदनशीलता, तरलता और ऋजुता का पूरी तरह अभाव है। उसके व यामिनी के बीच ऐसे कोमल और संवेदनात्मक संबंध स्थापित नहीं हो पाते जो कि पति-पत्नी के संबंधों की प्रगाढ़ता के लिए जरूरी हैं। इसीलिए शारीरिक सुख की संतुष्टि या भौतिक ऐश्वर्य की उपलब्धि के बावजूद यामिनी सुखी व संतुष्ट नहीं हो पाती। फिर प्रश्न यह भी है कि बिना मानसिक तुष्टि के देहसुख की अनुभूति कहाँ तक संभव है।

पर फिर यामिनी और विश्वास के जीवन में एक नया मोड़ आता है, पुत्र के जन्म के रूप में। क्योंकि पुत्र की प्राप्ति विश्वास के व्यक्तित्व में बदलाव का कारण बनती है। उसके व्यवहार में परिवर्तन आने लगता है। उसके भीतर जमा हुआ संवेदना का द्रव्य पिघलने लगता है। उसके व्यवहार में वह कोमलता दिखाई देती है, जिसकी यामिनी सदा से इच्छुक थी। पर विश्वास में यह परिवर्तन आता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है क्योंकि तब तक वह कैसर जैसी असाध्य बीमारी के शिकंजे में फँस चुका होता है। यामिनी अपनी पूरी शक्ति के साथ उसकी सेवा-सुश्रुषा करती है, पर उसे बचा नहीं पाती।

यामिनी के जीवन की करुणता यह है कि विश्वास में अपेक्षित परिवर्तन की जीवन-

रेखा इतनी छोटी रही कि सुख व संतुष्टि का हल्का सा स्पर्श ही यामिनी कर पायी कि सब कुछ उसकी पहुँच से छूट गया। विश्वास की मृत्यु ने एक विकराल भविष्य उसके सामने खड़ा कर दिया। यह ठीक है कि आधुनिक दृष्टि व शिक्षा ने स्त्री-जीवन को काफी बदल दिया है पर समाज आज भी एक अकेली और युवा स्त्री के प्रति काफी असहिष्णु है। विश्वास के जाने से यामिनी के लिए ऐसे अनेक मोर्चे खुल गए जिनके सामने वह अपने आप को असहाय पाने लगी। अकेलापन, बेटे का दायित्व, आर्थिक समस्या, ये सब उसके सामने खलनायकों की तरह खड़े थे। उसके लिए जीवन एक कठिन सफर बन गया था। और इन्हीं विकट स्थितियों के बीच उसका परिचय निखिल से होता है। खलनायक वक्रत, यामिनी के साथ कैसा खिलवाड़ करता है! काश, निखिल उस वक्रत उसके जीवन में आया होता जब विश्वास आया था। यानी कि विश्वास के स्थान पर निखिल होता तो शायद यामिनी का जीवन कुछ और होता। पर ऐसा न होना था, न हुआ।

निखिल ऋजु और शांत है। स्त्रियों के प्रति उसमें सम्मान-भाव है। उसमें वे सारे गुण हैं, जो यामिनी अपने पति में चाहती थी। पर निखिल और यामिनी स्थितियों के ऐसे चक्र में फँसे हुए हैं कि निखिल के सकारात्मक गुण भी यामिनी के लिए व्यर्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि वक्रत गलत था, स्थितियाँ गलत थीं, हालात विपरीत थे।

आज हम बहुत हद तक अपनी रूढ़ सामाजिक मान्यताओं से मुक्त हो चुके हैं। एक ऐसा वक्रत था जब किसी स्त्री का पुनर्विवाह भारतीय समाज में वर्जित था। समाज इसे स्वीकार नहीं करता था। यहाँ तक कि बड़ी छोटी उम्र में वैधव्य का शिकार होने वाली लड़की को भी पुनर्विवाह की स्वीकृति नहीं थी। पर आज स्थितियाँ काफी बदल चुकी हैं। पुनर्विवाह आज सहर्ष स्वीकृत है। इस संदर्भ में हम रूढ़िमुक्त हो चुके हैं। महिला-विकास और महिला-मुक्ति की दिशा में यह महत्वपूर्ण कदम है। स्त्री वैधव्य के असहनीय बंधनों से मुक्त होकर अपने जीवन को फिर से शुरू करने के लिए स्वतंत्र है। पर क्या सचमुच स्त्री मुक्त हो पायी है? और क्या अपनी वांछित जिंदगी प्राप्त कर सकी है? क्या पुनर्विवाह की यह सामाजिक स्वीकृति उसकी सहायता कर पा रही है? क्या सचमुच वह अपने जीवन को एक नया अवसर देने में सफल रही है?

सूर्यबाला ने स्त्री की पीड़ाओं के अंतहीन होने के जिस सत्य को व्यक्त किया है, उसी में हमें उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर मिलते हैं कि स्त्री-मुक्ति की दिशा में जब हम एक कदम आगे बढ़ते हैं तब तक नए प्रश्न, नयी समस्याएँ, नयी स्थितियाँ इससे भी कुछ कदम आगे बढ़कर स्त्री-जीवन से टकराती हैं। यामिनी के साथ भी यही हुआ है। निखिल ने अपने व्यवहार से यामिनी को अपने पक्ष में कर लिया था और यामिनी को भी अपने जीवन की समस्याओं का हल निखिल में नजर आ रहा था। पुतुल की सुरक्षा, अपने लिए एक शारीरिक-मानसिक आधार, आर्थिक सुरक्षा आदि। यही नहीं, निखिल से विवाह के पूर्व

उसने पुतुल से भी इस विवाह की स्वीकृति ली थी। और इस प्रकार उसने जिंदगी को एक और अवसर दिया। उसने सोचा अब वह शायद एक बेहतर जिंदगी जी पाएगी। स्त्री के प्रति विश्वास और निखिल के नजरिए के अंतर ने भी यामिनी का हौसला बढ़ाया था। पर वह कहाँ जानती थी कि पिछली यातनाओं से भी अधिक पीड़ाएँ उसके इंतजार में खड़ी हैं। विश्वास के साथ होते हुए वह केवल पत्नी थी। और उसका संघर्ष सिर्फ विश्वास के शुष्क व्यवहार से था। पर निखिल से विवाह के बाद तो उसके लिए स्थितियाँ और भी कठिन और जटिल होती गयीं। हमारी सारी खुली व मुक्त सोच के बावजूद रिश्तों का गणित इतना अटपटा साबित होता है कि किसी पराए को अपनाना सहज नहीं होता। रक्त का अपना एक नैसर्गिक खिंचाव होता है, जो लादे गए रिश्तों पर भारी पड़ता है। हमारी आदर्श संकल्पनाएँ इसके सामने कमजोर पड़ जाती हैं। निखिल और यामिनी ने बड़ी ईमानदारी के साथ एक संयुक्त नए जीवन की शुरुआत की थी। पर यह एक अचरज भरा सच है कि हम स्वयं भी अपने आपको कहाँ पहचान पाते हैं। इसी सत्य के तहत अपनी समूची ईमानदारी और मानवीय संवेदनाओं के बावजूद निखिल पुतुल के साथ उस स्वाभाविक रिश्ते को स्थापित नहीं कर पाता जो एक पिता-पुत्र के बीच होता है। और पुतुल भी उसे अपने पापा विश्वास का स्थान नहीं दे पाता।

कथा के उत्तरार्ध में यामिनी की यही मुख्य समस्या रही। और वह दोनों के प्रति अपराध-बोध से भर गयी। उसकी सारी शक्ति इन दो ध्रुवों के बीच संतुलन स्थापित करने में खर्च होने लगी। और फिर भी तीनों में से कोई संतुष्ट नहीं हो पाया। विश्वास के साथ उसे पीड़ा और यातना का अनुभव था, जब कि यहाँ पीड़ा के साथ अपराध-बोध भी शामिल हो गया। वहाँ विश्वास उसकी अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर पा रहा था, यहाँ निखिल और पुतुल दोनों को यह लगता रहा कि यामिनी उनकी अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर पा रही है। दोनों स्थितियों में झेलना तो यामिनी को ही है। इसी बीच यामिनी चुनचुन को जन्म देती है तो मानो निखिल के मन का एक कोना सुख व संतुष्टि से भर जाता है तो दूसरी ओर पुतुल दोनों से और भी दूर हो जाता है। इस सारी जटिल स्थिति में यामिनी न तो पूरी तरह से अपने पत्नी होने को महसूस कर पाती है और न खुलकर, भरपूर रूप में पुतुल और चुनचुन से मिले मातृत्व का उपभोग कर पाती है। उसकी झोली हमेशा रिक्त ही रहती। समूचे उपन्यास पर यामिनी के दर्द का अवसाद छाया हुआ है और रिश्तों के जटिल कुरुक्षेत्र में सब ऐसे फँसे हुए हैं कि अभिमन्यु की तरह बाहर निकलने का कोई रास्ता वे नहीं खोज पाते।

पर इस सबके बावजूद सूर्यबाला के रचनात्मक संयम और कसाव की बात करना जरूरी है। यामिनी-विश्वास, यामिनी-निखिल, यामिनी-पुतुल और निखिल-पुतुल। इन सबके बीच संबंधों का तनाव, कुछ कड़वाहट, रोष, शिकवे, शिकायतें सब मौजूद हैं पर रचनाकार का लक्ष्य हमेशा मूल्यों के मानवीय पक्ष के साक्षात्कार में विराम लेता है।

विश्वास के व्यक्तित्व में परिवर्तन की प्रक्रिया इसी की सूचक है। वह विश्वास जो जीवन की खुशियों को केवल भौतिक उपलब्धियों में देखता था और इस क्रम में उसने यामिनी को भी उपभोग की एक 'वस्तु' मात्र मान लिया था, उसी विश्वास के भीतर पुतुल के आगमन पर स्नेह का एक सोता फूट पड़ता है। एक कोमलता उग आती है उसके कठोर व्यक्तित्व में। और जब उसे असाध्य बीमारी घेर लेती है, तब उसे यामिनी के प्रति किए व्यवहार के लिए पछतावा होता है। रचनात्मकता की यह सार्थक परिणति है। विश्वास के इस मानवीय पक्ष का प्रकट होना जरूरी था। कृति की सफलता का यह सार्थक पड़ाव है। हो सकता है विश्वास के व्यवहार से आहत यामिनी के मन ने इसके बाद एक संतुष्टि और मुक्ति महसूस की हो! उधर पुतुल यामिनी-निखिल-चुनचुन के बीच अपने लिए कोई जगह नहीं पा रहा था। उसका आहत मन अपने मृत पिता से अधिक निकटता महसूस कर रहा था। इसीलिए पिता के ही काम और पद मर्चेट नेवी को अपना कर्मक्षेत्र चुनकर शायद वह यामिनी के सम्मुख अपना विरोध प्रकट करता है। पर विदाई के क्षणों में उसका मन भी भावुक हो उठता है। शायद इस सच के साक्षात्कार से उसकी संवेदना जाग उठती है कि अब वह इन सबसे दूर जा रहा है। उन अंतिम क्षणों में विदा होते हुए वह निखिल को 'बाय पप्पा' कहकर अपने भीतर सकारात्मक परिवर्तन का संकेत देता है। इसमें गहरे कहीं इस बात का रियलाइजेशन भी रहा होगा कि निखिल ने अपनी ओर से उसके साथ संबंधों का पुल बनाने की कोशिश की थी। शायद इस बात से यामिनी को भी सुकून मिला हो!

मेफेयर बिल्डिंग
तीसरी मंजिल,
फ्लैट नं. १०,
वी. एन. रोड,
चर्चगेट, मुंबई-४०००२०
□ □

साधारण स्त्री की असाधारणता

डॉ. नीरा नाहटा

रवींद्रनाथ टैगोर ने कहा था 'हमारी समस्या राजनैतिक नहीं, सामाजिक है।' अपने समाज की परंपराओं, रूढ़ियों और रीति-रिवाजों से आज भी हमारा परिचय समस्या के रूप में ही होता है। व्यक्ति के पोषण और विकास में समाज का महत्व नकारा नहीं जा सकता। स्त्री का जीवन समाज में कुछ अलग विशेषताएँ रखता है। कई सौ साल पहले तुलसीदास ने उमा और शंकर के विवाह प्रसंग में अपने समय की स्त्री की पीड़ा को वाणी दी। उमा की विदाई के समय उसकी माँ कहती है- 'कत विधि सृजी नारि जग माहीं, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' इतने लम्बे समय के पश्चात भी नारी के जीवन में यह पराधीनता रूप बदल-बदल कर अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

स्त्री-जीवन के केंद्र में आज भी 'विवाह' है। न हो तो समाज चिंतातुर और हो जाने पर तो समस्याओं की गठरी का मुँह ही खुल जाता है। गाँवों, कस्बों, मुहल्लों, नगरों में बिखरी आम जीवन जीती, जूझती, पीड़ा-दर्द झेलती स्त्री सहजता से दिखते हुए भी नहीं दिखती। पिछले तीन दशकों में लिखी गई कहानियों में से स्त्री जीवन पर केंद्रित कहानियों के संकलन 'गैरहाजिरी के बावजूद' (२०१४) में संवेदनशील, प्रखर कथाकार 'सूर्यबाला' की मात्र चौदह कहानियों से गुजरकर इस तथ्य की सच्चाई पर मुहर लगाना भले ही चौंकाता हो, परंतु शिक्षा, स्वतंत्रता, विकास और सफलताओं के ऊपर-ऊपर दिखनेवाली, चकाचौंध करने वाली विजयगाथाओं के बरक्स सामान्य स्त्री के जीवन में पीड़ा वेदना और मजबूरियों का ग्राफ क्यों चढ़ता ही जा रहा है।

'रमन की चाची', 'सुम्मी की बात', 'उत्तरार्द्ध', 'आदमकदम', 'मेरी शिनाख्त', 'कौमुदी एक प्रश्न', 'सुमितरा की बेटियाँ', 'अनाम लम्हों के नाम', 'गौरा गुनवंती', 'गीता चौधरी का आखिरी सवाल', 'बकौल कात्या', 'गैस', 'एक स्त्री के कारनामे', 'सुनो सुमित, सुनो सुलभ' स्त्री जीवन के प्रारंभों की कहानियाँ हैं। इन कहानियों की स्त्रियाँ कथाकार की मानस कल्पनाएँ नहीं हैं। उनका आधार यथार्थ जीवन है।

सूर्यबाला की इन कहानियों में हमारे आसपास सामान्य जीवन जीने और झेलनेवाली

स्त्रियाँ हैं, जिन्हें किसी भी ओर से विशेष नहीं कहा जा सकता। उनके छोटे-छोटे सुख-दुख हैं, पारिवारिक जिम्मेदारियाँ हैं जिनसे जुड़कर वे तप-त्याग की छाँव परिजनों को बाँटकर, तेज धूप और गीली बरसात हँसते हुए सहन कर जाती हैं।

‘रमन की चाची’ रमन (एक मासूम बच्चे) का आँखों देखा, सुना, समझा बयान है चाची के दर्द का। रंग रूप और गुणों से भरी चाची, रमन की दूसरी माँ की भविष्यवाणी के अनुरूप पाँच दिन में ही सूखी-सी दिखने लगती है। चाची परिवार की स्त्री (के पुरुषवादी रुख) की ईर्ष्या का शिकार होती है जो उसे हरसंभव मानसिक यातना प्रदान करता है। घरेलू हिंसा का अहिंसक रूप। पति, परिवार सबकी उपेक्षा और तिरस्कार सहकर खटते रहना। ऐसी स्थिति में मायके जाना भी उसके परंपरागत उसूलों को स्वीकार नहीं होता। लेखिका अत्यंत मार्मिकता से उसके पैरों के घाव में पितृसत्तात्मक समाज का कैसर फैलते दिखा देती हैं। एक निर्मम हत्या की साजिश सफल होती है।

चाची पढ़ने में रुचि रखती है। पढ़ाई बीच में छुड़वा दी जाती है, क्यों? अच्छा रिश्ता मिल गया। ऐसा ही ‘सुम्मी’ के साथ भी होता है। अपनी परंपरागत रूढ़ मान्यताओं के तहत हम सब भी इसे सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं। ‘सुम्मी की बात’ अस्तित्वविहीन होती स्त्री की कहानी है। पति, परिवार की जिम्मेदारियों के बीच उसका अपना वजूद ही कहीं खो गया है। बचपन का लाड़-दुलार, देख-रेख बार-बार एकांत में उसकी आँखों के समक्ष उभरते रहते हैं, अपना नाम सुनने की प्यास उसके अंतर्मन को अतीत में ले जाती है।

‘उत्तरार्द्ध’ की स्त्री भी नाम विहीन, कर्मरत शरीर है। पति, बेटे-बहू सबको जोड़े रखने की कोशिश में, उनके मनोनुकूल व्यवहार करते-करते वह खुद की पहचान ही खो बैठती हैं। भूल जाती है कि उसे क्या पसंद है, वह क्या चाहती है? ‘मेरी शिनाख्त’ की ‘विमला’ उच्च मध्यवर्गीय सुख सुविधाओं से भरे परिवार में है-किसी चीज की कोई कमी नहीं है। पति कुमार को ‘विमला’ नाम जँचता नहीं इसलिए वह ‘विभी कुमार’ है। क्या पहनना, क्या कहना और कैसा व्यवहार करना-सब कुछ पति के निर्देशानुसार। पूरी तरह पति की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन। उसकी पहचान एक टूँठ परछाईं जैसी जिसमें न जीवन है न जीवन का रस।

‘अनाम लम्हों के नाम’ एक पढ़ी-लिखी समझदार स्त्री के जीवन में स्नेहिल व्यवहार से भरे कुछ लम्हे मानो उसके सूखे से ग्रस्त हृदय में नयी चेतना भर देते हैं। महीन से महीन भावों को ग्रहण करने और उन्हें उचित भाषा संस्कार में व्यक्त करने में सूर्यबाला सिद्धहस्त हैं। इसीलिए उनकी कहानियाँ जीवंत और टटकी लगती हैं।

‘गैस’ की टंचाई ने मध्यवर्ग के नौकरीपेशा लोगों के जीवन में हलचल मचा दी थी। घर, नौकरी, बच्चे और रिश्ते-नाते सब कुछ निबाहना स्त्री के ही जिम्मे तो है। पति तो

खटके थका-मादा घर आता है, उस पर भी बॉस उसकी गलतियाँ दिखाये तो इस्तीफा देने को तैयार यह ख्याल तक नहीं, जिम्मेदारी का एहसास तक नहीं कि पत्नी-बच्चे हैं, गृहस्थी बिना नौकरी के कैसे चलेगी? दो महीने से गैस नहीं है, भाग-दौड़ पत्नी कर रही है-स्कूल की नौकरी के साथ। बड़े शहर से जेठानी और उसके बच्चे मेहमान बननेवाले हैं-तब कैसे इंतजाम होगा गैस के बिना। इसके साथ यह चिंता भी शामिल हो गई कि पति कहीं इस्तीफा न दे दे।

‘गीता चौधरी का आखिरी सवाल’ में प्रतिभा से लबालब भरी, उन्मुक्त मन की निष्कलुष गीता लड़की होने के कारण परिवार के लिए होम कर दी जाती है। क्योंकि लड़की की पढ़ाई कोई इतना जरूरी मामला नहीं है, उसका भविष्य सुरक्षित रखने में विवाह ही सब कुछ है। उसकी विद्रोही प्रतिक्रिया का सच जानने के बाद शिक्षिका के पास भी ‘अब वह क्या करे?’ का कोई जवाब नहीं है। सामाजिक संरचना ऐसी-ऐसी कितनी प्रतिभाओं की बलि लेती रहती है। हम सामान्य जन भी इसके इतने आदी हो चुके होते हैं कि हमें इसमें कोई गलती कभी नजर नहीं आती तो सुधार की जरूरत क्या महसूस होगी। दूसरों के आश्रय में पलनेवाली ‘गौरा’ अपने जीवन के अभावों की पूर्ति गुणों से करते हुए समझौतों में जीती है। रायसाहब के घर उसके ब्याह को लेकर सब उसके ‘नसीब’ को सराहते हैं। ताई स्वयं भी स्थितियों से समझौता करते हुए सहती रहती हैं और गौरा को भी यही सीख देती हैं।

‘आदमकद’ एक अनपढ़ बदसूरत स्त्री की कहानी। अपनी बदसूरती, अपना शरीर उसके लिए एक स्वीकारा हुआ सच था। एक ऐसा सच जिसके लिए वह कतई जिम्मेदार न थी। तब शर्मिंदगी या दयनीयता कैसी? बस वो जैसी है, है। अपनी इसी सोच के साथ परिश्रम एवं कर्तव्यनिष्ठा के बल पर वह परिवार में बनी रहती है और आदमकद व्यक्तित्व के रूप में स्थापित भी होती है। ‘मामी’ का कार्य या व्यवहार किसी भी उपेक्षा या अपमान से दयनीयता की ओर नहीं झुकता। इसी से मिलता जुलता श्रम का ही एक रूप है ‘सुमिंतारा मल्लाहिन’ निम्नमध्यवर्ग की मेहनतकश औरत सुमिंतारा शिकवे-शिकायत से दूर है। जिंदगी ने उसे जो दिया है, उसे अपने योग्य बनाने की कोशिश करते हुए बेटियों के साथ हँसते-खेलते जीवन जीती है। सामाजिक मान्यताओं के विरोध की क्षमता उसमें नहीं है लेकिन सम्मति भी नहीं है। उसकी बेटियाँ अपना आक्रोश व्यक्त करती हैं। ‘सुमिंतारा मल्लाहिन’ और ‘मामी’ के श्रमिक सौंदर्य को देखकर नए दौर के गीत की पंक्तियाँ याद आती हैं-

मेहनत अपने लेख की रेखा, मेहनत से क्या डरना,
कल गैरों की खातिर की, आज अपनी खातिर करना।

लेखिका ने इन श्रमशील महिलाओं की ताकत को पहचाना और बड़े ही बारीक ब्योरों के साथ स्पष्ट किया है।

‘एक स्त्री के कारनामे’ की पत्नी सुविधाओं के ऐसे तालाब में गिरी हुई है जहाँ पानी की तरलता, ठंडक या नमी उस तक पहुँच ही नहीं पाती है। सहज जीवन और सुविधा के बीच संघर्ष-सा है। खुश रहने की हर वजह उसके पास है लेकिन वह खुश नहीं हो पा रही है क्योंकि आपसी स्नेह सूत्र, रिश्तों की उष्मा, आत्मीयता इन सब के कोने बिखरे हुए हैं।

‘सूर्यबाला’ की ‘कौमुदी’ एक ऐसा स्त्री पात्र है जो पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था और पारंपरिक रूढ़ियों से घिरे परिवारों के समक्ष अपने विद्रोही तेवर के साथ प्रश्न बनकर खड़ी हो जाती है। विवाह के बाजार में परंपरा के नाम पर नित नुमायश बनने का अपमान असहनीय बन गया। स्नेही माता-पिता तरह-तरह की माँग रखनेवालों के साथ समझौता करके बेटी देने में हर्ज नहीं समझते और बिना किसी माँग के बेटी का हाथ माँगने वाले को सिर्फ इसलिए माफ नहीं कर सकते कि वह किसी अन्य समाज से संबंधित है। समाज की अभेद्य दीवार का भय परिवार से अपने स्नेही को उत्पीड़ित करवाता है। ऐसे में सुख या मंगल का स्वप्न भी आयेगा क्या? कहते हैं सामाजिक परिवर्तन की गति धीमी होती है। चारों ओर जिस तेजी से हमारे समाज का ढाँचा बदला है, रहन-सहन, पहनावा, खान-पान सभी में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। बस सोच के स्तर पर यह बदलाव गति नहीं पकड़ता, भला क्यों?

‘सुनो समित, सुनो सुलभ’ की विनीता पत्नी और माँ के रूप में पति और पुत्र को उनकी मनचाही दिशा की ओर बढ़ने में सीढ़ी बनकर रही। उनसे अब कोई अपेक्षा न रखते हुए, बिना किसी अपराध बोध के मुक्तमन से अपने लिए जीने की शुरुआत करती है। ‘रमन की चाची’ से ‘सुनो समित, सुनो सुलभ’ की यात्रा में स्त्री की सोच समझ और जीने के अंदाज में परिवर्तन स्पष्ट है। रमन की चाची चुपचाप धुँधुआती रहती है और जीवन से संबंध तोड़ देती है परंतु विनीता अपने लिए जीने की नयी राह तलाश लेती है।

रेखांकित करने योग्य एक और महत्वपूर्ण तथ्य है कि सूर्यबाला के यहाँ अधिकांश स्त्री-पात्र पुस्तकों में रुचि रखनेवाले हैं। ज्ञान से जुड़े रहकर ही संभवतः नयी दिशाएँ खोजी जा सकती हैं। यथार्थ कहने के लिए साहस की जरूरत होती है पर कहानी कहने के लिए विश्वास भी चाहिए। सूर्यबाला के इन कथा-पात्रों की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता निःसंदिग्ध है। सूर्यबाला हर स्त्री-पात्र के इर्द-गिर्द की परिस्थितियों, मजबूरियों के रेखांकन में स्त्री के भीतर की समझदारी, विवेक, सहृदयता, संवेदनशीलता, करुणा और रचनात्मकता को बचा लेती हैं। यहाँ कहानियाँ न संकट में खत्म होती हैं न आकस्मिक समाधान में, बल्कि वे एक ‘क्रिटिकल विजन’ तक पहुँचाती हैं ताकि पाठक भी सक्रिय होकर कुछ सोचे। स्त्री की निजता और अधिकार की ओर कदम बढ़ते हुए इन कहानियों में उनकी पीड़ा, संघर्ष, संवेदना और अन्तर्द्वन्द्वों को परिवर्तन कामी आकांक्षाओं के साथ बड़ी

गहराई से प्रस्तुत किया गया है। हमारे आसपास घटती वास्तविकताओं से जीवन के यथार्थ को पकड़ कर इन कथा-पात्रों को रचने, सोचे समाज एवं सुप्त नारी चेतना को जीवन और मानवीयता का सही अर्थ समझाने की कोशिश भरी इन कहानियों के लिए हमारी प्रिय कथाकार सूर्यबाला का अभिनंदन।

6, लवडेल को-ऑप हाउ. सो.,
प्लॉट-४४, सेक्टर-२,
चारकोप, कांदिवली (वेस्ट),
मुंबई ४०० ०६७
□ □

लघुकथा

छलकता दर्द

सत्य शुचि

मैं गरीब था, भाई अमीर। और उन बुरे दिनों में भाई ने मुझे आर्थिक सम्बल दिया था, जिसे मैं भूला नहीं था।

मगर आज भाई की स्थिति काफी डाँवाडोल चल रही थी। मुझे लगा भाई को मेरी जरूरत है...। और तुरंत मैंने संचित राशि उनको पेश करनी चाही।

उसी क्षण भाई बिफर उठे और उन्होंने कहा — तुम्हारी सहायता एक दान थी...। और फिर गरीब की दान-सहायता करना बुरा तो नहीं है, समझे। कह कर भाई वहाँ से चुपचाप खिसक गए थे।

तभी मेरा अंतर खुद की खुदारी पे चीखें मार-मार कर रो उठा था — काश! भाई का ये विकृत रूप मुझे पहले ही मालूम होता...।' मैंने सोचा।

सहसा, भाई के रवैये से मैं अब एक खिन्नता महसूस करने लगा। लेकिन, मैं चाहकर भी न जाने क्यों अपने खून के रिश्ते को तोड़ नहीं सकता था। फिर भी, सारांश की बात यह है कि मैं भीतर ही भीतर बेहद टूट-टूट गया था।

साकेत नगर,
ब्यावर-३०५९०१ (राजस्थान)
□ □

सूर्यबाला के स्मित व्यंग्यः संवेदना के प्रवाह में विचारों के अक्स

डॉ. शशि मिश्रा

व्यंग्यकार पद्मश्री शरद जोशी और डॉ. सूर्यबाला के सान्निध्य ने मन की गहराई में एक बात बैठा दी कि व्यंग्य; जीवन की बाहरी विसंगतियों को मन की भीतरी जिन्दादिली-“सेंस ऑफ ‘यूमर’” तथा उर की स्मित रेखा से लिखा गया जीवन का संधिपत्र है। आदमी की सीप में आत्मीयता की मोती को सुरक्षित बचा लेने की कला है। स्वानुभूति और सह-अनुभूति के प्रति उदात्त दृष्टिकोण है। संवेदना के प्रवाह में विचारों के अक्स भरने की क्षमता है। अभिव्यक्ति की भव्यता, शब्द-चयन की संतुष्टि और रचना के तृप्तिकारक अंत को सूर्यबाला अपनी रचनाओं का मूल बनाती हैं। महत्वाकांक्षा की ऊंची दौड़ में भस्म होते जीवन की व्यथा-कथा को शब्दबद्ध करती हैं। अपने लेखन की अंतर्यात्रा बताते हुए सूर्यबाला लिखती हैं- “ मेरी बेचैनी कोई पनाह या पलायन के रास्ते ढूंढती थी और ये रास्ते मुझे मेरी कलम सुझाती थी। प्यासी आत्मा के लिए अंजलिभर पानी की तरह। जीवन से जुड़ी ये सारी विडंबनाएं, विद्रूप मेरे बचपन के अवचेतन में आ-आकर दुबकते रहे, मेरे अनजाने। दुःखों को बाँटना मेरी आदतों में शुमार नहीं। उनका एक मात्र साझा इस कलम से ही रहा। गोपनीय साझा। ऊपर-ऊपर हल्की फुल्की हँसी उत्फुल्लता। अंदर की उदासी की ऊपरी परत-सी।”

अपनी रचना प्रक्रिया पर बात करते हुए डॉ. सूर्यबाला स्वीकार करती हैं कि परिस्थितियाँ एक गहरे उद्वेलन की तरह साथ लगी रहती हैं। ... किन्हीं अवसादी क्षणों के बीच से चुपचाप उनके साथ हो लेती हैं; इस आत्मविश्वास के साथ कि दुःखों की यह पगडण्डी अपना गंतव्य तलाश लेगी। वे लिखती हैं- “संवेदना के प्रवाह में विचारों के अक्स भर डालकर छोड़ दिया... धारा में बहते नन्हीं दोनियों में रखे दियों की तरह।” उनकी स्पष्ट मान्यता है कि “सिर्फ वैचारिक विस्फोटों के सहारे रचनाएँ नहीं चला करतीं। उसे पढ़ने वालों के मर्म को छूना होता है। पाठक को उसकी अपनी कहानी चाहिए होती है, बौद्धिकता के तिलिस्मी यथार्थ में भटकती सिर्फ लेखक की कहानी नहीं।” इससे सूर्यबाला की रचनाएँ संवेदना से संवेदना की यात्रा में विश्वास करती हैं। एक आभास, एक अनुभूति

मात्र को निरंतर मथती चली जाती हैं। महत्वाकांक्षा की ऊँची दौड़ में भस्म होते जीवन को घर-परिवार के भीतरी, अपरिभाषित स्थितियों और अनाम संबंधों के पिटारे खोजती हैं। अनुभवों की गहराई में जाती हैं। व्यक्ति के आत्मविश्वास, जिजीविषा को श्रीहीन होता देख अपने संस्कारों के जीवन-मूल्य सौंपती हैं, दायम दर्जे के लोगों के सहारे खड़े इस सिस्टम के बीच अपने पात्रों को जीने की ताकत देने की कोशिश करती हैं। बचपन की विषम परिस्थितियों, विडंबनाओं और विद्रूप के बीच प्रसाद की 'कामायनी' से ऊर्जा प्राप्त करती हैं-

“आँसू से भीगे आंचल पर/अपना सब कुछ रखना होगा/ तुमको अपनी स्मित रेखा से/यह संधिपत्र लिखना होगा।”

सूर्यबाला के संवेदनशील मन ने अपनी विधवा माँ की जिजीविषा में चैबीस कैरेट की साख, शहर के संत्रांत कुटुम्बों की सदाशयता से जीवनी-शक्ति प्राप्त की। स्वयं को अपनी असहाय माँ का अभिभावक महसूस किया। असहाय माँ के आत्मघाती व्यापार के मूल में निहित वात्सल्य को परखा- “मन करता, माँ को नन्हें शिशु की तरह हाथों में उठाकर इन सारी आपदाओं से दूर उठा ले जाऊँ।” जिन्दादिली से लबरेज परिवार की विषमताओं में डॉ. सूर्यबाला 'साकेत' की कैकेयी से संबल प्राप्त करती हैं- “सोने का संसार मिला मिट्टी में मेरा, इसमें भी भगवान! भेद कुछ होगा तेरा।” साहित्य, कला, संगीत की मर्मज्ञता से प्राप्त रागात्मक जिजीविषा की अनमोल विरासत को डॉ. सूर्यबाला ने अपने साहित्य का स्पंदन बनाया। उनकी व्यंग्य - रचनाओं की अंतर्धारा है- “समग्रतः व्यक्ति की छीजती संवेदना को समृद्ध करना और व्यक्ति को एक बेहतर आदमी में तब्दील करना।”

मानव - मन में ज्वालामुखियों का विस्फोट और निसर्ग की शांत धारा साथ-साथ रहते आये हैं। व्यक्ति न जाने कितनी जिन्दगियाँ एक साथ जीता है। एक-एक आदमी की खाल के भीतर कई-कई इंसान की विद्रूपताएँ सूर्यबाला की संवेदना को व्यथित करती हैं। वे महसूस करती हैं कि प्रत्यक्ष क्रूर संसार उनकी रचनात्मकता का अंग नहीं हो सकता। अतः करुणा और अवसाद के उद्वेग को, विसंगति और विद्रूप की तीक्ष्णता को व्यंग्य का “छौँका” लगाती हैं। “सत्यम् ब्रूयात्, प्रियम् ब्रूयात्” हँसते हुए सत्य कथन का सांस्कृतिक आधार प्रदान करने हेतु शब्द-साधना करती हैं; लयबद्धता का आधार लेती हैं- “करूँ क्या आस निरास भई”, “साँप पिटारी में लाठी अटारी में”, “दुनियाँ रंग रंगीली बाबा, दुनियाँ रंग रंगीली” जैसी कहावतों, मुहावरों के सहारे स्वयं को थामती हैं। थामने की इस प्रक्रिया में उनके सहयोगी शब्दों, विचारों के हुजूम का कारवाँ चल पड़ता है। वे महसूस करती हैं कि विसंगतियाँ और विद्रूप तो तुँसे हैं जीवन में। अंदर-बाहर चारों तरफ दिमाग में भीड़ लगी रहती है। ऐसे में हर शब्द को नट की तरह, तनी हुई रस्सी पर कलामंडियाँ खानी होती हैं, करतब दिखाने होते हैं। शब्द को अपना पूरा कायाकल्प कर, एक ध्वनि,

एक इमेज, एक मसला और एक मुकम्मल प्रतिरोध में बदलना होता है। सीधे-सीधे “अभिधा” की रस्म अदायगी यहाँ चलती ही नहीं केवल व्यंजना की तराश, शब्दों को उलट-पलट कर रचना और विचार के अनुकूल बनाना होता है। श्रीलाल शुक्ल इसी से व्यंग्य - लेखन को एक सुशिक्षित मस्तिष्क की देन मानते हैं। वे लिखते हैं- “लोकमानस में व्याप्त कथाओं, गीतों और रीतिरिवाजों के इशारे- इन सब को लेकर एक समर्थ लेखक ऐसी कलाकृति का निर्माण करता है जो चोट करती हैं- और चोट के दायरे से दूर रहने वाले का मनोरंजन भी। ऐसा लेखन आदर्शों के क्षय पर मानसिक तिलमिलाहट की ही नहीं, अच्छी बौद्धिक तैयारी की भी अपेक्षा करता है।... व्यंग्य की बौद्धिक प्रक्रिया में शामिल होने के पहले लेखक का अपने सामयिक आदर्शों के प्रति सुस्पष्ट और प्रतिबद्ध होना लाजमी है।”

व्यंग्य को गद्य - लेखन का निकष मानते हुए सूर्यबाला उसे आज के समय का एक अनिवार्य उद्गार मानती हैं - “समाज में व्यंग्य का कच्चा माल आज जितना उपलब्ध है, पहले कभी नहीं था। पहले जिन स्थितियों को हम महाभ्रष्ट समझते थे, आज वे हमारी दिनचर्या में शामिल हैं और स्वीकृत हैं।

जीवन-जगत की तमाम विसंगतियों, विद्रूपताओं को सूर्यबाला जी ने अपने व्यंग्य का विषय बनाया, पाठकों की सम्बल बर्नी- “नैतिक दृष्टि से एक सीधे, सही और ईमानदार आदमी के लिए आज के स्थितियों में अपने असूलों के साथ जीना, अपने अस्तित्व की रक्षा कितनी बड़ी चुनौती हो जाती है।” साथ ही मन के एक कोने में यह विश्वास भी बचाए रखना कि ‘जीवन के छोटे-छोटे आदर्श हमारे यथार्थ से बहुत दूर नहीं। चाहे तो आसानी से उन्हें जीवन में उतार सकते हैं।’

सूर्यबाला जी की स्पष्ट धारणा है कि “स्वान्तः सुखाय” के बाद लेखन, मर्मज्ञ पाठकों के लिए ही होता है। व्यंग्य - लेखन की रचना प्रक्रिया पर उनकी टिप्पणी है-“व्यंग्य लेखन की रचना प्रक्रिया अन्य विधाओं से पर्याप्त भिन्न होती है। व्यंग्य में प्रतिरोध का कथ्य होता है। यह प्रतिरोध अधिकांशतः सामाजिक स्थितियों के विद्रूप से उत्पन्न होता है। अतः सामाजिक विकृति, स्थितियाँ अथवा हमारे आस - पास का घटित, चाहे वह जीवन के किसी क्षेत्र से जुड़ा हो, मेरे व्यंग्य लेखन के मूल में होता है। मेरा प्रतिरोध व्यक्ति के विरुद्ध न होकर प्रवृत्ति के विरुद्ध होता है।... देखना यह होता है कि प्रहारात्मकता और कलात्मकता में पाठक को विषय की गहराई तक ले जाकर उन्हें झकझोरने, प्रतिरोध उत्पन्न करने की क्षमता रखती है।... बेशक आज की चरम व्यावसायिक और निर्मम हो गयी स्थितियों के बीच व्यंग्य द्वारा विसंगतियों के उन्मूलन की महत्वाकांक्षा हम नहीं पाल सकते.... किन्तु पाठक के मन-मस्तिष्क को लगातार ठकठकाने, उसकी चेतना और संवेदना को जागृत करने का काम तो व्यंग्य करता ही है। हर व्यंग्य रचना के उत्स में

बेहतर भविष्य की कल्पना निहित होती है। अर्थात् व्यंग्य एक परिवर्तनगामी समाज की आकांक्षा का प्रतीक है।” इस परिवर्तन की जरूरत सम्पूर्ण जीवन को, मानवीय आकांक्षाओं को है, बृहत्तर समाज को है, अतः सूर्यबाला जीवन के सभी पक्षों को अपनी व्यंग्य-दृष्टि का विषय बनाती हैं। उनकी व्यंग्य रचनाओं का संसार जीवन के बृहद तक व्याप्त है। क्या राजनीति, क्या समाज, क्या धर्म, क्या शिक्षा, क्या नीति, जिंदगी के अन्यान्य क्षेत्रों के विद्रूप उनकी लेखनी को धार प्रदान करते हैं और उनकी वाणी का विलक्षण व्यापार बनकर व्यंग्य में प्रकट होते हैं। गम्भीर से गम्भीर मुद्दों को स्मित-हास्य का पुट प्रदान कर वे उसे पठनीय एवं विचारणीय स्वरूप प्रदान करती हैं। बेमेल तथ्यों का सिलसिलेवार, सुचिन्तित, सम्यक मेल प्रस्तुत करती हैं। अपनी व्यंजना हेतु “भाषा-नर्तन” शब्द के विपर्यय शक्ति का सहारा लेती हैं... “झूठ बोले कौआ काटे”, “कुढ़ते रहियो ऐ बाँके लाल! हो कुढ़ते रहियो” जैसी संवाद शैली का सहारा ले गम्भीर विसंगतियों को लयबद्ध झंकार प्रदान करती हैं- विद्यालय अर्थात् वह स्थान जहाँ पर विद्या का लय हो जाता है अर्थात् किया जाता है; विद्यार्थी अर्थात् विद्या की अर्थी उठाने वाला; कहन की यह खिलंदड़ शैली यदि व्यंग्य है तो इसे जीवन-जगत की गहराई की विकृतियों की मार्मिक व्याख्या ही कहना पड़ेगा जिसे झेलने के लिए जिन्दादिल बनना अनिवार्य है। पारंपरिक, निर्मम प्रहार का खिलंदड़ बन जाना इस तथ्य का प्रमाण है कि जीवन की स्थितियाँ बदली हैं, जीवन-शैली बदली है। परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति की शब्दावली, शब्दों के अर्थ बदल गये। किन्तु डॉ. सूर्यबाला संवेदना की तरलता और मार्मिकता को अपनी रचना की पहली शर्त मानती हैं। अतः जीवन की नई जटिलताओं को आसानी से बयां करने हेतु सहज-सरल, लोक-बोधी एवं लोक बेधी संवादों का सतर्क चयन करती हैं। अपने व्यंग्य को शिष्ट हास्य की नक्काशी से आपूर्ण कर उसे व्यंजना की सारथी का दर्जा देती हैं। व्यंग्य को गद्य-लेखन का निकष बनाती हैं। अवसाद, विद्रूप और तल्लिख्यों से भरे जीवन का सामना करने हेतु इंसान जिन-जिन कारगुजारियों, तिकड़मों का सहारा लेता है, उन्हें अपनी लेखनी का हिस्सा बनाती हैं।

ज्ञान चतुर्वेदी जी से बात करते हुए सूर्यबाला जी कहती हैं- “व्यंग्य में विचार और कौंध जैसे स्वयं तय करके आती हैं। तीव्र प्रतिरोध मन में कौंधते ही स्वर्णमृग की तरह उसका पीछा करना होता है.... काफी कुछ दम के दम तेज-तेज लिख डालती हूँ।” उन्होंने स्वीकार किया है कि “अनायास ही एक बेचैनी घेरती है। इनका उत्स तो वही है अर्थात् वे स्थितियाँ, विसंगतियाँ जो हमें झकझोरती हैं। समाज के हर क्षेत्र में चल रही विसंगतियों की नौटंकी को लेकर बौखलाहट का स्थायी भाव तो मन में रहता ही है। अतः जैसे ही कोई घटना, स्थिति या कथ्य उद्दीपन का काम करता है, प्रतिरोध मुखर हो उठता है। संवेदना का यह पारस-क्षण होता है जो अनुभूतियों को अभिव्यक्ति में बदल देता है। डॉ. सूर्यबाला के व्यक्तित्व की सहजता, सौम्यता, शालीनता, मृदुता और खरापन बड़े ही

स्वाभाविक रूप से इनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। सबसे बड़ी खूबी यह है कि व्यंग्य-लेखन में चाहे मीठी चुटकी ले रही हों अथवा प्रखर बौद्धिक प्रहार; कहीं भी जीवन की आस्था मिटने नहीं पाती; अपितु विद्रूपताओं और विसंगतियों के उन्मूलन की प्रेरणा देते हुए सर्वत्र जीवन-आस्था के बीज रोपती, पल्लवित और पुष्पित करती हैं।

सूर्यबाला जी के व्यंग्य पक्ष पर लिखते हुए कई बार मन-मस्तिष्क में एक वाक्य उभरकर आता रहा- “सूर्य की बाल किरणें”, किन्तु शब्दबद्ध नहीं कर पायी। उनके सृजन-संसार पर अपनी बात रखते हुए डॉ. दामोदर खड़से जी का शीर्षक- “शब्द किरणों में: डॉ. सूर्यबाला” ने मन को आह्लादित किया, अपनी सोच के प्रति आश्वस्त हुई। डॉ. सूर्यबाला का समस्त लेखन सूर्य के उजास और किरणों के प्रकाश से गुंफित लेखन है। हाँ, एक महत्वपूर्ण मुद्दा-“स्त्री-विमर्श” को मैंने जानबूझ कर नहीं छुआ तो इसलिए कि यह स्त्रियों के संस्कार और कर्तव्य चेतना की बातें हैं। मुम्बई के सोफिया जैसे महाविद्यालय की मेरी सह प्राध्यापिकाएँ अक्सर यह जानकर अर्चम्भित हो जाती थीं कि सुबह आठ बजे का व्याख्यान शुरू करने से पहले मैं घर के नौ सदस्यों के भोजन आदि की व्यवस्था करने के बाद महाविद्यालय पहुँचती थी। उनके मुँह से अक्सर निकलता- “वी जस्ट वंडर; हाऊ डु यू कोप अप”! मैं भीतर ही भीतर मुदित हो उठती। काश! आप सबने संयुक्त परिवार को जाना होता! आप परिवार से संयुक्त हो पाये होते! सूर्यबाला के स्त्री पात्र “स्त्री” से पहले व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व, उनकी परम्परा, संस्कृति और संस्कार की देन है जहाँ इंसान पाने से पहले देने की सोचता है; एक छोटी लाइन के बरअक्स सहिष्णुता, उदारता, विवेक और मनुष्यता की बड़ी लाइन खींचना चाहता है- “जो तोको काँटा बुए, ताहि बोव तू फूल” कबीर की आँखन देखी की सीख को अमली जामा पहनाता है। स्त्री लेखन और पुरुष लेखन की भिन्नता पर सूर्यबाला जी की टिप्पणी है- “संवेदना जितनी गहरी होगी, अभिव्यक्ति सामर्थ्य जितनी प्रबल होगी, रचना उतनी सशक्त होगी। लिखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री। तथाकथित आधुनिक “महिला लेखन” के प्रति वे स्पष्ट कहती हैं- “यह लेखन स्त्री रचनात्मकता के सम्मान की दृष्टि से नहीं बल्कि उसे दोगुने दर्जे का प्रमाणित करने की एक प्रच्छन्न साजिश के तहत है। अनुभव का दायरा हर कथाकार का दूसरे कथाकार से पृथक होता है, रचनात्मक संवेदना और दृष्टि, अभिव्यक्ति- सामर्थ्य भी। वह स्त्री हो या पुरुष”।

डॉ. सूर्यबाला गहन संवेदना, इंसानियत एवं रचनात्मक प्रतिभा की धनी, सहज-सरल, स्नेही एवं आत्मीयता से लबरेज इंसान हैं। व्यक्तित्व की गरिमा ऐसी कि हर किसी को भरपूर प्रोत्साहन और मार्गदर्शन देने को तत्पर। अपने पुनश्चर्या पाठ्यक्रम के दौरान मैंने डॉ. कलाम की पुस्तक ‘अग्नि की उड़ान’ की समीक्षा लिखी थी। सूर्यबाला जी ने ‘सार्थक संवाद’ के मंच पर मुझसे यह समीक्षा पढ़वायी और सदस्यों से सार्थक चर्चा करवायी। सूर्यबाला के लिए स्त्री विमर्श का अर्थ है स्त्री के संपूर्ण बहिरंग और अंतरंग को समीचीन

समझने की कोशिश। उसकी सोच, दृष्टि, समस्याओं और मनःस्थितियों का विश्लेषण तथा सामाजिक, पारिवारिक और आंतरिक दबावों के बीच जीती स्त्री की मुक्ति, चेतना और स्वातंत्र्य जैसे शब्दों से क्या रिश्ता बन पाया है, उसके सोच की दिशा क्या है और क्या होनी चाहिए, इसकी पड़ताल। सूर्यबाला जी साहित्य में प्रचारित किये जा रहे तथाकथित विमर्श के 'स्त्री-सरोकारों' से दुःखी हैं। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि स्वयं आज की आधुनिकाएँ भी 'विमर्श' और 'स्वतंत्रता' के नाम पर 'देह' तक सिमट आई हैं। लेखिका इसे चरम सांस्कृतिक अवमूल्यन का नाम देती हैं। उनका मानना है कि हमारे विचार और दृष्टिकोण ही अपनी धुरी से च्युत हो गये हैं; हम गलत चीजों के साथ जीने के अभ्यस्त होते जा रहे हैं; हमारे अन्दर गलत को गलत कहने का आत्मबल ही नहीं बचा। ऐसे पतनशील समय को सूर्यबाला अपने व्यंग्य की धार तथा धारणा का अक्स थमाती हैं- "इंडियन-युमन.... कुछ भी कर गुजरने में विश्वास करती है... वह जैसे-जैसे समर्थ होती गयी वैसे-वैसे बोल्ट होती गई। समर्थ होने का अर्थ मात्र 'बोल्ट' होना माना जाने लगा... अब इसकी जगह हॉट ने ले ली है।" स्त्रियाँ जिस शोषण के खिलाफ खड़ी हुई थीं, उसी का जाल अब अपने हाथों बुन रही हैं। कभी लज्जा, धैर्य, सहनशक्ति, भीतरी गहराई के सहारे अनगिनत सदस्यों वाले खानदानों को सम्हालने-सँवारने का माद्दा रखती थी, आज विज्ञापनों की आर्थिक दुनिया में बिकनी पहनने, निर्वस्त्र होने को ही जीवन का गौरव मानती है।..... वह लोगों को बताना चाहती है कि इस देश में 'गरीबी रेखा के नीचे रहने वालों के पास तन ढकने को कपड़े नहीं होते, अतः वह अपने ड्रेस-डिजाइनर से कहकर जानबूझकर ऐसे कपड़े बनवाती और पहनती हैं, जिससे बमुश्किल तन ढंका जा सके, अर्थात् न ढंका जा सके।' सूर्यबाला के व्यंग्य शब्दों की व्यंजना शक्ति के सहारे उनसे खेलते-खेलते पाठक के मन में एक ऐसी चुभन सरका देते हैं जो देर तक उसके मस्तिष्क की शिराओं को झन्नाती रहती है। विचार, चिन्तन और संवेदना परस्पर साथी बनकर एक दूसरे को थामते हैं, पुचकारते और बहलाकर अभिन्न मित्रवत एक साथ हो लेते हैं। सूर्यबाला अपने चिन्तन की प्रखर रश्मियों को वैचारिक व्यंग्य की तपन से बचाते हुए संवेदन-सिक्त करती हैं; अपने व्यंग्य को पंथ के मानुषगंध से भरती हैं। सूर्यबाला के व्यंग्य-लेखन का एक-एक शब्द मानुषगंध से भरा हुआ है- 'शब्द-शब्द मानुषगंध' है।

अशर्फी सदन

डी-59/106सी-6

चंद्रिका नगर, सिगरा,

वाराणसी-221010,

(उत्तर प्रदेश)

□ □

‘समीचीन’ के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई-४०००५४

समीचीन

जुलाई-दिसंबर 2018

54

सब्र के अंत से उपजा व्यंग्य : इस हमाम में

डॉ. सतीश पाण्डेय

समकालीन साहित्य की विशिष्ट हस्ताक्षर सूर्यबाला ने जहाँ अपने आस-पास के जीवन और समाज को उसकी समूची शक्ति एवं कमजोरियों के साथ पूरी सजगता से कथात्मक अभिव्यक्ति दी है, वहीं समकालीन समय और समाज में व्याप्त विषमताओं और विद्रूपताओं पर करारा व्यंग्य प्रहार भी किया है। अब तक उनके कुल पाँच व्यंग्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन व्यंग्य रचनाओं को पढ़ते हुए एक तथ्य प्रमुख रूप से उभरकर यह आता है कि सूर्यबाला जी ने व्यंग्य लिखने की सायास कोशिश नहीं की है बल्कि अपने आस-पास स्थित विद्रूपताओं और विसंगतियों को देखकर उनके मन में व्यंग्य अपने आप उभरकर आता है। उनमें यह शक्ति बचपन से रही है। एक स्थान पर उन्होंने स्वीकार किया है कि जब-जब अपनी ऐसी किसी मूर्खता, निरीहता और कमजोरी पर ठठाकर हँसने का मन होता है, व्यंग्य से ज्यादा बड़ा मददगार दूसरा नहीं होता। (भगवान ने कहा था, पृ. ४९)

इसी व्यंग्य-शक्ति के बल पर बचपन में वे अपनी हट्टी-कट्टी कद्दावर मझली बहन को पराजित करती रहीं। उनका मानना है कि यह व्यंग्य-शक्ति सकारात्मक सोच वाली होती है। इसका लक्ष्य सच्चाई, इंसानियत, भाईचारे और न्याय के हक में खड़े होना तो होता ही है, जब इस व्यंग्य का जुनून सिर पर सवार हो जाता है तो वह गलत चीजों और व्यवस्था के प्रतिरोध के लिए उकसाता और बेचैन भी करता है। यह व्यक्ति को एक किस्म की बेखौफी भी सौंपता है। और कुंठा-मुक्ति का तो अचूक नुस्खा है व्यंग्य।

इस तरह इनके व्यंग्य का आरंभ किसी 'विषदंशी स्थिति' की परिणति के रूप में ही होता है। जब कोई ऐसी स्थिति चीरती-बेधती आर-पार निकल जाती है तो शरीर में व्याप्त इस छटपटाहट से मुक्ति या निजात व्यंग्य ही दिलाता है। इनका मानना है कि जब बेशर्म गतिविधियाँ सारी सीमाएँ फलाँग जाती हैं तो व्यंग्यकार के लिए इमरजेंसी जैसी स्थिति पैदा हो जाती है और त्वरित ऐक्शन आवश्यक हो जाता है। इसी त्वरित ऐक्शन की परिणाम होती हैं इनकी व्यंग्य रचनाएँ। शायद सब्र का अंत ही व्यंग्य की शुरुआत होती है। (भगवान ने कहा था, पृ. ५३)

समीचीन

जुलाई-दिसंबर 2018

55

‘इस हमाम में’ २०१६ में प्रकाशित इनका नवीनतम व्यंग्य संग्रह है। इसमें इन्होंने समकालीन सामाजिक-राजनीतिक जीवन की विसंगतियों, अंतर्विरोधों, धार्मिक पाखंडों और मिथ्याचारों तथा सांस्कृतिक कुप्रभावों, लेखकीय एवं साहित्यिक जगत की विडंबनाओं आदि पर तीखा प्रहार किया है। समकालीन राजनीति में व्याप्त छल-छद्म, घोटाले, भ्रष्टाचार, अयोग्य नेतृत्व, अवसरवादिता और मूल्यहीनता आदि हमेशा से व्यंग्यकारों के निशाने पर रहे हैं। इस संग्रह में संकलित ‘देश सेवा के अखाड़े में’, ‘वोट विधेयक और मुहल्ले की माताएँ’, ‘थोक के भाव हिंदुस्तान’ तथा ‘यह देश और सोनिया गांधी’ ऐसे ही कुछ व्यंग्य-निबंध हैं। आज का नेतृत्व और उसके इर्द-गिर्द घिरे लोग किस कदर भ्रष्टाचार में लिप्त हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं, ‘देश सेवा के अखाड़े में’। यदि कोई देश की सेवा करना भी चाहे तो समूचा परिवेश उसे भ्रष्ट बनाने पर उतारू दिखाई देता है। देश-सेवा का फैसला करते ही एरिया का कांट्रैक्टर बँगला बनवाने का प्रलोभन दे जाता है। व्यापारी संगठन का प्रमुख यह सुनाता है कि ‘आप इस एरिया के जनसेवक होकर आ रहे हैं और खरीदकर मेवे खाएँगे? लानत नहीं होगी इस जमीन के बाशियों के लिए? ... वैसे भी ... खरीदकर खाएँ मेवों में वो स्वाद और लज्जत कहीं जो देश-सेवा से प्राप्त मेवे में होती है।’ (इस हमाम में, पृ. २५) इसी तरह एरिया का नामी-गिरामी दर्जी लिबास बनाने के लिए नाप ले जाता है। बुलवर्करी सीनेवाला मुच्छड़ संतरी के लिए अपनी दावेदारी पेश कर जाता है और सिर पर लाल टोपी तथा गले में रेशमी रुमाल बाँधे लोग भी आकर उन्हें सुरक्षा और वोट का आश्वासन दे जाते हैं। इसी संदर्भ में वर्तमान राजनीति में असामाजिक तत्वों की बढ़ती दखल पर व्यंग्य करते हुए लेखिका ने सधे हुए शब्दों में लिखा है-‘यह इलाका जितना आपका है उतना ही हमारा भी। इतना ध्यान रखिएगा, देश सेवा के क्षेत्र में रहकर हमारे जैसे देशवासियों से द्रोह न मोल लीजिएगा। बाकी जिम्मेदारी हमारी। न वोट की कमी होने देंगे, न नोट की। आप चैन से सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र के पिछड़े हुए तमाम काम कीजिए, चाहे काम तमाम कीजिए। (इस हमाम में, पृ. २६)

स्वार्थी राजनीति और उनके सहयोगी अपराधी तत्वों की मिलीभगत के लिए सामान्य जनता भी जिम्मेदार होती है। नेताओं के लिए ऐसे क्षेत्र में राजनीति करना अधिक मुफीद होता है जहाँ लोग गरीबी, भुखमरी और अशिक्षा के बावजूद कोई शिकायत या विरोध नहीं करते। आम आदमी की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए इन्होंने लिखा है-‘लोग भी सीधे-सादे नादान किस्म के हैं-तो बहकाने की कोई गुंजाइश नहीं। ... ये हमेशा रोटी के लाले पड़े रहने पर भी कभी शिकवे-शिकायत नहीं करते। हर हाल में मुँह सिलकर रहने की जबरदस्त ट्रेनिंग मिली है इन्हें।’ (वही, पृ. २३)

‘पादुका प्रसंग’ में अभिव्यक्ति की आजादी के नाम पर नेताओं की सभाओं में चलाए जा रहे जूते और राजनीतिज्ञों के प्रति सामान्य जनता का असंतोष राजनीति के क्षेत्र में हो

रहे अवमूल्यन का सूचक है। बड़े ही सहज शब्दों में लेखिका ने इस विडंबना को उभारा है - 'जूते चिढ़ गए हैं इन दिनों। कहते हैं, यह हमारी तौहीनी है। ये क्या कि हमें जिस-तिस पर उछाल दिया, जैसे हमारी कोई इज्जत ही नहीं।' (वही, पृ. ३५) ऐसे सहज-सामान्य विषयों को आधार बनाकर इन्होंने सामाजिक-राजनीतिक जीवन की विकृतियों की ओर संकेत किया है। जिसके मूल में आदमीपन की रक्षा का प्रयास निहित है- 'यह जूतागिरी तुम आदमियों को ही मुबारक हो। ...जूतमपैजारी में हमारा विश्वास नहीं। आदमी हो तो आदमी की तरह प्रतिरोध करना सीखो। जूतों के बहाने गुस्से का इजहार क्यों?' (पृ. ३५)

इसी संदर्भ में मीडिया के चरित्र पर भी लेखिका ने करारा व्यंग्य किया है। असंतोष व्यक्त करने के लिए तो एक बार जूता उछाला जाता है लेकिन मीडिया में घंटे में सैकड़ों के हिसाब से उछाला जाता है। वास्तव में इससे चैनलों के लिए टीआर पी जुटाया जाता है। समाचार चैनल जानते हैं कि 'आज आदमी से ज्यादा जूता, संवेदना से ज्यादा सनसनी बिकती है सूचना क्रांति के बाजार में, इसलिए जूतागिरी का कारोबार दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की पर है।' (वही, पृ. ३६)

लोकतंत्र में चुनाव के समय लोग सारी मर्यादाएँ पार कर जाते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में हो रहे अवमूल्यन पर 'थोक के भाव हिन्दुस्तान' और 'यह देश और सोनिया गांधी' में बड़ी ही बेबाकी से व्यंग्य प्रहार किया गया है। कोटा, परमिट, लाइसेंस, ग्रांट, अनुदान आदि तमाम क्षेत्र हैं, जहाँ लोग बेखौफ़ होकर मनमानी कर रहे हैं। वोट की राजनीति के चलते लोग दो रुपए किलो चावल का फॉर्मूला तलाश लेते हैं। नेताओं की योग्यता उनके द्वारा किए गए अपराधों के आधार पर आँकी जाती है। लोकल नेता से ऊपर जाने के लिए थोड़े दंगे-फ़साद, कल्ल तस्करी और अंडरवर्ल्ड की सरकार चलाने का अनुभव जरूरी है। कारागार में रहते हुए सरकार चलाने का जोखिम तो सीधा विशेष योग्यता क्रम में ला बैठाएगा।' (वही, पृ. ८५) यहाँ अवसरवादी, चाटुकार और बिना रीढ़वाले नेताओं के लिए सोनिया गांधी एक समानांतर सरकार का केंद्र बन जाती हैं। इन नेताओं की सबसे बड़ी जरूरत सोनिया गांधी से मिलने जाने की होती है। वे वहाँ जाकर क्या बातें करते हैं, यह कोई नेता नहीं बताता। वे सिर्फ़ उनसे मुलाकात करते हैं। जो यह बताने को तैयार भी होता है, वह पार्टी के विघटन पर चिंता और आपसी एकता बनाए रखने की कोशिश में उनके नेतृत्व में आस्था व्यक्त कर आता है। नेताओं के इस मानसिक दीवालिएपन पर व्यंग्य करते हुए इन्होंने लिखा है- 'अपने देश के लोग कितने दूरदर्शी हैं। वक्त-बेवक्त, गाहे-बगाहे के लिए एक सोनिया गांधी तैयार रखते हैं। खुद सोचने-समझने की जहमत उठाने, अपने कृत्यों पर शर्मिंदा होने और इस देश को रसातल में जाने से बचाने की कोशिश करने की जगह वे सोनिया गांधी से मिलने चले आते हैं। मिलकर सारे दायित्वों से मुक्त हो जाते हैं। उनका मन शांत और चित्त प्रसन्न हो जाता है।' (वही, पृ. ९७)

भारतीय समाज में अमेरिका जाना प्रतिष्ठा का विषय माना जाता है। डॉलर की चकाचौंध के सामने लोग और कुछ सोचने-समझने लायक नहीं रह जाते। युवा इंजीनियर, डॉक्टर, नर्स, होटलर आदि सबको मिलाकर वहाँ एक 'आलीशान इंडिया' बसा है। लोग इस 'अमेरिकी इंडिया' की शानो-शौकत का बखान करते नहीं अघाते। सूर्यबाला जी वहाँ की ललक और भारतीय माता-पिता की बेबसी पर व्यंग्य करते हुए लिखती हैं- 'उच्चवर्गीय हिंदुस्तानी क्रीम सोसाइटी के लकड़क नूर-चश्मे ही नहीं, मध्यवर्गीय नौनिहालों का कारवाँ भी तो महत्वाकांक्षा की पोटलियाँ लिए तमाम सारी एयरलाइनों के टर्मिनलों से फलाँगता चला आता है। गुबार देखते माता-पिता हिंदुस्तान में रह जाते हैं-इस उम्मीद में कि एक न एक दिन रंक चलै सिर छत्र धराई।' (वही, पृ. ६४)

इस निबंध में लेखिका ने अमेरिकी समाज और संस्कृति के बीच भारतीयों की मानसिकता पर करारा व्यंग्य किया है। इन भारतीयों को माता-पिता की याद तब आती है जब उनके बच्चों को पालने की समस्या होती है। यहाँ हर कार्य के लिए मशीन है। आदमी कहीं नजर नहीं आता। आते भी हैं तो किसी फ्रन या एंज्वायमेंट वाली जगहों पर। ऐसे में हिंदुस्तानी माँ एक अकेले सारे काम सलटाने के साथ बच्चे को भी सँभाल ले जाती है। ऊपर से फुल्ली ऑटोमेटिक। कल-पुर्जे कभी खराब नहीं होते। घुटनों-जोड़ों में टूट-फूट हुई भी तो हिंदुस्तान से अचूक दर्दनाशक तेलों से, आपसे आप मरम्मत कर लेती है। (वही, पृ. ६५)

यहाँ बच्चों का निर्द्वंद्व उल्ललना कूदना संस्कृति के अनुकूल नहीं जान पड़ता। खुश रहने या गम गलत करने का कारगर टॉनिक बाज़ार है। टॉयलेट पेपर से लेकर इंसानी रिश्तों तक में 'यूज एंड थ्रो' का सिद्धांत अपनाया जाता है। लेखिका ने इस मानसिकता पर व्यंग्य करते हुए लिखा है-इंफोपोगे तो बटोर चुके डॉलर, झोंप, खिसियाहट, आत्मसम्मान और स्वाभिमान जैसे शब्द हिंदुस्तानी शब्दकोशों में ही ठीक रहते हैं। ...आत्म-सम्मान को इमीग्रेशन और स्वाभिमान को कस्टम के काउंटर पर सरेंडर नहीं करोगे तो ये शब्द बना-बनाया खेल बिगाड़ देंगे। (वही, पृ. ६६)

इस तरह लेखिका ने हिंदुस्तानियों की मानसिकता और अमेरिकी स्वच्छंदता पर प्रहार कर प्रकारांतर से भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास की ओर संकेत किया है। उसने बड़े ही सटीक शब्दों में दोनों संस्कृतियों की यथार्थ स्थिति पर टिप्पणी की है कि 'वे डॉलर पाकर पागल हैं, हम डॉलर पाने के लिए'।

'इस हमाम में' भी सुविधा संपन्नता के बीच एक भारतीय पिता की उलझनों पर सटीक व्यंग्य है। वे अमेरिका स्थित अपने बेटे के सर्व सुविधा संपन्न घर को देख कर रोमांचित हो उठते हैं। बाथरूम की सज्जा देखकर तो वे हक्के-बक्के रह जाते हैं। अचानक उन्हें अपना कद बहुत छोटा नजर आने लगता है। वे इतना अधिक सोचने

लगते हैं कि उन्हें लगता है, जैसे बाथरूम सुख-चैन, मौज-मस्ती और इत्मीनान की लगान वसूली का कारिदा हो। अमेरिका जाने के पीछे की मानसिकता को यह लेखकीय टिप्पणी बखूबी उजागर करती है-यही सारा ताम-झाम जुटाने के लिए ही तो बेटे को यहाँ भेजा था आपने। शान, संपन्नता, समृद्धि और सुविधाओं के अतिरेक का सरअंजाम। और अब इसी अतिरेक से उत्पन्न असुविधाओं से झुँझलाए, त्रस्त हैं आप। (वही, पृ. ७३)

आज धर्म-स्थल तमाम विसंगतियों का केंद्र बने हुए हैं। खासतौर पर राजनीतियों और शासन-प्रतिनिधियों के किसी मंदिर में जाने से वहाँ का महत्व एकदम बढ़ जाता है। 'भगवान ने कहा था' निबंध में पुजारियों के पाखंड और आडंबर के साथ-साथ मंदिरों में पनप रहे भ्रष्टाचार और पुजारियों के स्वार्थ को भी उद्घाटित किया गया है। आज भक्त भी उन्हीं मंदिरों में जाते हैं जिनकी पब्लिसिटी कारवाई जाती है। ज्यादा प्रचारित मंदिरों में चढ़ावा और नकदी भी ज्यादा पहुँचता है। इन्हीं मंदिरों की महिमा भी गाई जाती है। इस तरह फैटेसी शैली में लेखिका ने मंदिरों में पनप रहे समूचे पाखंड और भ्रष्टाचार को उजागर किया है। वर्तमान समाज में मानवीय मूल्यों के महत्वहीन होते जाने की विडंबना 'सामना : यमराज से' में व्यक्त हुई है। लेखिका के अनुसार - 'सच पूछिए तो जमाना इतनी तरक्की कर रहा है कि सच और झूठ जैसी कोई चीज रही ही नहीं, बात की बात में सच को झूठ और झूठ को सच की ऐसी शकल दे दी जाती है कि पता ही नहीं चलता कि हकीकत में जो है, वह सच है या झूठ है। (वही, पृ. ९०)

व्यंग्य मात्र नेताओं और व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों पर ही नहीं होता इसका विस्तार मनुष्य की प्रकृति और उसके स्वभाव में निहित विसंगतियों तक भी होता है। इसीलिए 'बड़े आदमियों की बातें', 'पापी पपीता', 'एक और दंत कथा' या 'कॉलोनी में कुत्ता' भी इनके व्यंग्य का विषय बन जाता है। बड़े आदमी का झूठा 'महानत्व' लेखिका के व्यंग्य का शिकार बनता है। 'कॉलोनी में कुत्ता' आने से कॉलोनी की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। वह स्टेटस सिंबल बन जाता है। इस सामान्य विषय को लेखिका मानव जीवन में हो रहे मूल्यों के हास से जोड़ देती है- 'आखिर क्यों बनाया सभ्य समाज ने अपना स्टेटस सिंबल एक कुत्ते को? ...शायद इसलिए कि कुत्ते को कमजोर पर भौंकते और बलवान से दुम दबाकर भागने या दुम हिलाने की कला आती है या इसलिए कि कुत्ता हड्डी झिंझोड़ने की कला में निष्णात होता है? वफादारी बेशक किसी जमाने में कुत्ते के साथ जोड़ी जाती रही होगी किंतु आज तो आदमी की कुत्तों के प्रति वफादारी के किस्से दनादन हिट हो रहे हैं। (पृ. ८२) इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लेखिका कहती है कि सिर्फ इंसानी गुणों के सहारे अब जिंदगी नहीं काटी जा सकती है। जिंदा रहने के लिए उसे अब श्वान वृत्तियों को अपनाना होगा। जैसे दूसरों के मुँह की रोटी को छीन भागना, सच्चाइयों पर गुराते और भौंकते चले जाना और झूठ, फरेब, जालसाजी के सामने पड़ते ही सबको समीचीन

भूलकर तेजी से दुम हिलाने लग जाना आदि। ये सारे गुण आज के सभ्य विश्व के आदमी में चाहिए ही चाहिए। (वही, पृ. ८३) इस तरह लगातार हो रहे अवमूल्यन की ओर लेखिका ने बड़ी ही सहजता से संकेत किया है।

सूर्यबाला जी अधिकांश व्यंग्य रचनाओं के मूल में स्वयं को मानती हैं। स्वयं से उनका तात्पर्य मानव मन से है। यह मानव मन बड़ा ही कुटिल, दंभी, स्वार्थी, अवसरवादी और स्वयं को दूध का धुला साबित करने की कोशिश करनेवाला होता है। इस प्रवृत्ति के खिलाफ ही व्यंग्यकार के मन का आक्रोश फूटता है और वह समाज, मनुष्य और व्यवस्था की गंदगी दूर करने का प्रयास करता है। व्यक्ति-शोधन और समाज के स्वास्थ्य के लिए लेखिका ने तमाम विसंगतियों पर व्यंग्य किया है। चाहे किसी साहित्यकार का शताब्दी वर्ष मनाने के लिए आयोजक द्वारा तरह-तरह का तिकड़म लगाना हो या 'हिंदी साहित्य में पति-पत्नी की स्थिति और पत्नी के पुरस्कार पाने के बाद समाज का बदला दृष्टिकोण हो या साहित्य में कार और ड्राइवर के योगदान की चर्चा, लेखिका ने इस क्षेत्र की तमाम विसंगतियों पर अपनी व्यंग्य-लेखनी चलायी है। विवेच्य निबंधों में दो और विषय प्रमुखता से उभारे गए हैं। एक है स्त्री-विमर्श और दूसरा स्वतंत्र भारत में हिंदी की दशा। महिला कथाकार-व्यंग्यकार होने के नाते सूर्यबाला जी के लेखन में स्त्री विमर्श की चर्चा बार-बार होती है लेकिन स्त्री-विमर्श के संदर्भ में इनकी अपनी अलग और स्वतंत्र धारणा है। वे किसी वैचारिक संकीर्णता से प्रभावित हुए बिना इस विमर्श में जहाँ असंगतियाँ देखती हैं, उस पर प्रहार करती हैं। स्त्री की स्वतंत्रता और उसमें विकसित होती नई चेतना की हिमायत करते हुए वे स्त्री जीवन के कुछ विरोधाभासों पर कटाक्ष करती हैं। 'स्त्री-विमर्श का स्वर्ण युग' निबंध में इन्होंने माना है कि स्त्री सदियों से उपेक्षा, दुत्कार, शोषण और उपभोग की वस्तु रही है, जिसे सिर्फ कन्यादान और राखी बाँधने वाली वस्तु के रूप में जाना जाता रहा है। दूसरे स्त्री-विमर्श के तहत यह बताया जाता है कि स्त्री पैदा नहीं होती, बनायी जाती है। स्त्री को स्त्री बनाया न जाए, इसके लिए स्त्री-विमर्श के आंदोलनधर्मी सबसे पहले उसके आँख के पानी को ही सुखा देते हैं, क्योंकि सारे फसाद की जड़ यह आँख का पानी ही है। आँखों का पानी सूख जाने पर उसके लिए खूबसूरत माया लोक रचा जाता है। रंगारंग सपनों से भरपूर पैकेज लिए छोटे-बड़े कारोबारियों से लेकर विज्ञापन की सारी शक्तियाँ बाजार में डेरा डाल लेती हैं और उसकी खूबसूरती की सामर्थ्य आँकी जाती है। उसकी शरीर की संभावनाओं पर दूरबीनें टिक जाती हैं। लेखिका के अनुसार स्त्री-विमर्श का यह स्वर्ण युग है, स्त्री इस विमर्श का स्वर्ण मृग। उसकी ड्रेस ऐसी है कि ड्रेस और अनड्रेस का अंतर ही समाप्त हो जाए। स्त्री के 'वस्तु' बनने के खिलाफ जंग छेड़नेवाली स्त्री जिस तरह स्वयं वस्तु में तब्दील होने की अगुवाई कर रही है, उस पर व्यंग्य करते हुए इन्होंने इस नई स्त्री का तर्क इस प्रकार रखा है- 'आपके समझने का फेर है। हमने उपेक्षा और दुत्कार की वस्तु बनने से इनकार किया था, बाजार

के उपभोग की वस्तु बनने से थोड़ी न। और फिर यह वाली वस्तु हम अपनी मरजी से बन रहे हैं। किसी पुरुष की क्या मजाल जो जबरदस्ती हमें उपभोग की वस्तु बना सके। (वही, पृ. १०१)

आजादी के बाद हिंदी को राजभाषा का दर्जा दिया गया लेकिन हिंदी की स्थिति कभी भी राजभाषा जैसी नहीं बन पायी। यह हमारे समय की ऐसी विडंबना है, जिसका संबंध स्वाभिमान और प्रतिष्ठा दोनों से जुड़ा है। वर्तमान में हिंदी की दशा पर व्यंग्य करते हुए इन्होंने 'अगली सदी का शोधपत्र' निबंध फैंटेसी शैली में लिखा है। इस निबंध की शुरुआत ही होती है कि एक समय की बात है, हिंदुस्तान में एक भाषा हुआ करती थी उसका नाम था हिंदी। हिंदुस्तान के लोग उस भाषा को दिलोजान से प्यार करते थे। बहुत सँभालकर रखते थे। कभी भूलकर भी उसका इस्तेमाल बोल चाल या लिखने-पढ़ने में नहीं करते थे। सरकारी दफ्तरों में भी इसके प्रयोग की यही स्थिति थी। इस तथ्य पर कटाक्ष करते हुए सूर्यबाला जी लिखती हैं— 'चूँकि यह भाषा समूचे हिंदुस्तान की गरिमा की प्रतीक थी, इसलिए इसे वातानुकूलित ऑफिसों की एयर टाइट फाइलों में बंद करके रखा जाता था।...कुछ बड़े लोगों के लिए हिंदी बोलने का कोटा निर्धारित किया जाता था। कोई बड़ा लेखक, राजनीतिज्ञ, अफसर या अहिंदी भाषी जब हिंदी बोलता था तो तालियाँ पीटी जाती थीं... लेकिन वही हिंदी जब कोई सामान्य व्यक्ति बोलता तो वह उपहास, दया या उपेक्षा का पात्र समझा जाता था। इसलिए ऐसे लोग अपने देश में अंग्रेजी और विदेशों में जाकर हिंदी बोल आया करते थे। (वही, पृ. १०३) इस तरह हिंदी की वर्तमान स्थिति को व्यंग्यात्मक रूप में इन्होंने बखूबी उभारा है। यह भाषा कम एक मुखौटा अधिक है, जिसे लोग खास मौकों पर लगाया करते हैं। यह एक चश्मा जैसी है, जिसे लगाकर अनुदानों, पुरस्कारों की छाया में सांस्कृतिक यात्राओं का सुख लूटा जा सकता है।

अंततः 'इस हमाम में' की व्यंग्य-रचनाएँ समसामयिक विसंगतियों को बड़ी ही सहज-व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति देती हैं। इनमें सपाट विवरण न होकर कथात्मकता भी है, जिसके माध्यम से समकालीन जीवन की विडंबनाओं को उभारते हुए वंचितों-पीड़ितों का पक्ष-समर्थन किया गया है। कई व्यंग्य रचनाएँ तो पूर्णतः संवादशैली में हैं, जिनमें कथातत्व की उपस्थिति उन्हें और अधिक रोचक बना देती है। लेखिका की सकारात्मक सोच के फलस्वरूप ये व्यंग्य रचनाएँ व्यक्तिमन एवं समाज में व्याप्त विसंगतियों के प्रति लेखिका का आक्रोश प्रकट करती हैं और एक स्वस्थ समाज की रचना का सार्थक प्रयास करती हैं।

अध्यक्ष, हिंदी विभाग
के. जे. सोमैया कला व वाणिज्य महाविद्यालय,
विद्याविहार, मुंबई-४०००७७

□ □

सूर्यबाला के व्यंग्य-लेखन की धार

नंद भारद्वाज

हिन्दी की जानी-मानी रचनाकार डॉ. सूर्यबाला की केन्द्रीय पहचान एक कथाकार के रूप में ही रही है। कथाकार के रूप में अब तक उनके आधा दर्जन उपन्यास, एक दर्जन से भी अधिक कहानी संग्रह और कितने ही चयन-संकलन पाठकों के हाथों में पहुंच चुके हैं। वे पत्र-पत्रिकाओं में भी बराबर लिखती रहती हैं। कथा-लेखन की इस सुदीर्घ प्रक्रिया में व्यंग्य और व्यंजना को अरसे तक उन्होंने एक शैली और बयान की तकनीक के रूप में तो अवश्य अपनाया, लेकिन उसे एक अलग विधा के रूप में अपनाने का उछाह बहुत बाद में उत्पन्न हुआ। उनके उपन्यासों और कहानियों में मानवीय प्रेम, पीड़ा, अंतर्द्वन्द्व, अवसाद, करुणा और मानवीय संबंधों की जटिलता शिद्ध के साथ व्यक्त होती रही है, मानवीय संवेदना की गहन अभिव्यक्ति उनके कथा-लेखन की अनूठी विशेषता मानी जाती है। अपनी कहानियों में व्यंग्य और व्यंजना के प्रति बढ़ते इस रुझान को लेकर वे स्वयं यह बात कहती भी हैं - 'शुद्ध व्यंग्य लेखों से अलग मेरी कहानियों में भी जहां सिचुएशन्स ने झोली फैलाई, मेरे व्यंग्य ने अलादीन के चिराग के जिन्न की तरह हुक्म बजाया। ऐसी कहानियों में 'बाऊजी और बंदर', 'एक स्त्री के कारनामे', 'होगी जय पुरुषोत्तम नवीन', 'सुनंदा छोकरी की डायरी', 'मातम', 'मानुषगंध', 'गजानन बनाम गणनायक', 'दादी और रिमोट', 'शहर की सबसे दर्दनाक खबर' आदि प्रमुख हैं, जिनमें 'सपोर्टिंग आर्टिस्ट' होने के बावजूद कहानी की शक्ति और सौन्दर्य व्यंग्य के कंधों पर टिका है।' यही नहीं, वे यह भी मानती हैं कि व्यंग्य या व्यंजना कोई बाहरी या आयातित प्रक्रिया नहीं है, बल्कि रचनाकार की अपनी सहज-स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो उसके जीवन-अनुभव और विषयवस्तु की आंतरिक मांग से उपजती है। इस प्रक्रिया में व्यंग्य की उपज का हवाला देते हुए वे कहती हैं - "वहां मानवीय संबंधों, द्वंद्व-द्विधाओं और विसंगतियों से उपजे प्रतिरोध अवसाद की तलहटी में गहराते जाते हैं। एक भंवर की तरह मथते हैं और देर तक प्रतीक्षा करते हैं, काफी लंबी, एक तरह से यह उनकी प्रकृति होती है, लेकिन व्यंग्य का जुनून सीधे सतह पर हलकोरता चोट करता है और फौरन का फरमान जारी करता है। बेचैनी और तड़फड़ाहट प्रायः हर विधा की रचना में बराबर होती है, व्यंग्य की प्रतिक्रिया भी दोनों तरह बराबर होती है, लेकिन प्रतिक्रिया और प्रतिरोध की प्रकृति में अंतर होता है। एक

गहरे अवसाद और अंतर्द्वन्द्वों के बीच नीड़ का निर्माण करता है, दूसरा त्वरित ऐक्शन लेता है।"

इस त्वरित और तात्कालिक प्रतिक्रिया से उपजे व्यंग्य को सूर्यबाला बेशक 'अचानक की उपज' या 'अनायास की उपलब्धि' कहती हों, लेकिन जीवन की विसंगतियों और विद्रूप से अनवरत संघर्ष करती उस स्त्री-रचनाकार के लिए अपनी रचनाशीलता को महज संजीदगी और संवेदनशीलता तक सीमित रख पाना आसान नहीं होता, उसे व्यंग्य-विनोद के लिए रास्ता निकालना ही होता है, जो उसकी रचनात्मकता और संप्रेषण की नयी संभावनाएं खोजता है। सूर्यबाला अपनी इन व्यंग्य रचनाओं को बेशक इसी प्रक्रिया और जरूरत की उपज मानती हों, लेकिन व्यंग्य रचना की इस प्रक्रिया को साधना इतना आसान भी नहीं होता। धूमकेतु की तरह प्रकट होता आईडिया जिस गति और गहराई से रचना में पसराव लेता है और उसके कलेवर में समय-समाज की वे तमाम विसंगतियां खुलने लगती हैं, तो उस बयानगी में सहज परिहास-सी लगने वाली उक्तियां अपनी व्यंजना में और गहरी मार करने लगती हैं। उनसे गुजरता हुआ पाठक कई बार विस्मित और बेचैन-सा होकर रह जाता है। असल में व्यंग्य का काम ही है विसंगतियों और मानवीय दुर्बलताओं पर गहरी चोट करना। यह काम किसी वैचारिक लेख या व्याख्यान के माध्यम से उतना असरकारी नहीं होता, जितना एक कथा के ताने-बाने में ढलकर आकार लेता है और इस बात को कुबूल करते हुए सूर्यबाला कहती भी हैं कि 'मेरे पूरे लेखन में 'व्यंग्य' ने बेहद अहम भूमिका निभायी है, विधा के रूप में भी और शैली के रूप में भी।'

व्यंग्य विधा में अब तक सूर्यबाला की आधे दर्जन से अधिक कृतियां सामने आ चुकी हैं, जिनमें प्रमुख हैं 'अजगर करे न चाकरी', 'धृतराष्ट्र टाइम्स', 'देश सेवा के अखाड़े में', 'भगवान ने कहा था', 'पत्नी और पुरस्कार', 'मेरी प्रिय व्यंग्य रचनाएं', 'प्रतिनिधि व्यंग्य रचनाएं' और 'यह व्यंग्य कौ पंथ'। विषय वैविध्य की दृष्टि से इन व्यंग्य रचनाओं का फलक बहुत बड़ा है। हास्य या व्यंग्य की सबसे बड़ी खूबी या कामयाबी इस बात में लुपी होती है कि रचनाकार स्वयं अपने व्यक्तित्व और कर्म को कैसे और कितना व्यंग्य के निशाने पर लेता है-अपनी आदतों, प्रवृत्तियों और दुर्बलताओं पर कितना परिहास कर पाता है और एक स्त्री रचनाकार के लिए तो यह कर पाना निश्चय ही आसान नहीं होता, जो पहले से ही इस पुरुष-प्रधान समाज में जगह-जगह बेढब हालात का सामना कर रही होती है, पग-पग पर जिसे उसकी मयार्दाएं और सीमाएं याद दिलाई जाती हैं। एक स्त्री या लेखक होने को लेकर कोई और क्या, व्यंग्य या परिहास करेगा, जब स्वयं सूर्यबाला जैसी समर्थ लेखिका ऐसे औचक अवसरों, स्थितियों, महत्वाकांक्षाओं और दुर्बलताओं को बेपर्द करने पर तुली बैठी हों। वह चाहे पचास या साठ की आयु पार लेखक-लेखिकाओं के मान-सम्मान का मसला हो, किसी लेखिका (जो एक गृहिणी, पत्नी और अपने बच्चों

की मां भी है) के पुरस्कृत होने की खबर से घर-पड़ोस में बना ऊहापोह का माहौल हो (कि ये क्या हो गया!) या साहित्य में स्त्री-विमर्श और महिला-दिवस जैसे सतही समारोहिक आयोजन, जहां अमूमन स्त्री को श्रेय-सम्मान देने की बजाय उसका दिखावा अधिक होता है।

एक लेखिका के रूप में सूर्यबाला जी के वैचारिक सोच और स्वभाव की बड़ी खुबी यह है कि अपने पारंपरिक सनातन संस्कारों के बावजूद अपने लेखन और संवाद में वे लोकतंत्र और खुलेपन को पूरा स्पेस देती हैं। मिथकीय मान्यताओं, पारिवारिक रिश्तों और प्रचलित लोक-विश्वास के प्रति पूरा सम्मान का भाव रखते हुए वे व्यक्ति की गरिमा, वैज्ञानिक सोच और जीवन में नवाचार की पुरजोर हिमायत करती हैं। उनकी ऐसी व्यंग्य रचनाओं में 'भगवान ने कहा था' और 'गजानन बनाम गणनायक' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। व्यंग्य जैसी शैली और विधा में इस प्रक्रिया को सीधे-सीधे साध लेना आसान नहीं होता, वहां न तर्क संभव है और न विवेचन। उन रूढ़ संस्कारों, अन्तर्विरोधी मान्यताओं और जड़ धारणाओं को जीवन के व्यावहारिक अनुभवों, नाटकीय दृष्टान्तों और मानवीय विवेक पर भरोसा रखते हुए उनसे उपजने वाली जटिल और विडंबनापूर्ण स्थितियों को धैर्य से उजागर करना लेखक का प्रमुख लक्ष्य होता है। व्यंग्य निश्चय ही इस प्रक्रिया में प्रभावशाली भूमिका अदा करता है। सूर्यबाला ने अपनी इन व्यंग्य कथाओं में मानवीय स्वभाव और सनातन संस्कारों वाले ऐसे अनेक मसलों को बखूबी उजागर किया है।

सम-सामयिक जीवन-स्थितियां और राजनैतिक माहौल व्यंग्य-लेखन के लिए सबसे उर्वर जमीन मानी जाती है। सूर्यबाला ने इस उर्वर धरा का अपेक्षाकृत कम उपयोग किया है, पर जहां किया है, वहां जी खोलकर किया है और इससे उनके कथा-लेखन में अलग तरह की चमक और धार उत्पन्न हुई है। सन् 2015 के मध्य में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित उनके नये व्यंग्य-संग्रह 'यह व्यंग्य कौ पंथ' की व्यंग्य रचनाएं निश्चय ही अपने सम-सामयिक सामाजिक-राजनीतिक परिवेश की विसंगतियों पर प्रभावशाली प्रहार करती हैं। इस उलझे हुए परिदृश्य के बारीक ब्यौरे में हम न भी जाएं, तब भी यह याद दिलाने की जरूरत शायद ही पड़े कि सन् 2015 तक आते-आते हमारे समय की राजनीति ने देश की लोकतांत्रिक संरचना, सामाजिक समरसता और देश की अर्थ-व्यवस्था को किस विकट मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस संग्रह में 'सिफर हो गयी राजनीति और सूत उवाच', 'अथ अकर्मण्य-यज्ञ-उपदेशामृत', 'जन-आकांक्षा का टाइटिल सांग', 'दल-निर्माण की पूर्व संध्या पर', 'यह देश और सोनिया गांधी' आदि व्यंग्य कथाएं देश की इसी दीन-दशा का आख्यान बयां करती हैं और इस बयानगी में वे किसी खास राजनीतिक दल के पक्ष या विपक्ष में नहीं खड़ी दिखतीं, एक लेखक के नाते उनके लिए लोकतंत्र और देशहित सर्वोपरि है। इसी देशहित का दावा करने वाले कर्णधारों के असली चरित्र और उनके आचरण की ओर इशारा करते हुए वे लिखती हैं--"कर्णधार क्या करें, उन्हें यही

ठीक-ठीक समझ में नहीं आ रहा था। यूँ करने को बहुत कुछ कर चुके थे। चुनाव जीत चुके थे। जीतने से पहले और बाद में पार्टी बदल चुके थे। सूखा, बाढ़, दंगों और दुर्घटनाओं में मरे-खपे लोगों को मुआवजे बांट चुके थे। आतंकवादी गतिविधियों और सीमा पार चली गोलियों के लिए भी कई बार कह चुके थे कि ये बेहद कायराना हरकतें हैं। पार्टी के छंटे हुए अपराधी-सरगना के मरने पर उसे राष्ट्रे की अपूरणीय क्षति बता चुके थे (वरना पार्टी वाले जीने नहीं देते)। देश के नाम संदेश भी प्रसारित कर चुके थे।” (यह व्यंग्य कौ पंथ, पृ 108)

व्यावसायिक राजनीति के इन कलाबाज-कर्णधारों का अटल विश्वास है कि देश लगातार तरक्की कर रहा है, उन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में विकास की गंगा बहा दी है, लेकिन लोग हैं कि वे अपनी रोजी-रोटी-कपड़ा-मकान जैसी घिसी-पिटी जरूरतों और आकांक्षाओं से उबर ही नहीं पा रहे। ‘कितने पिछड़े लोग, कितने दकियानूसी विचार! न उनकी आंखों में कोई सपना है, न मन में कोई उमंग। देश कहां का कहां चला गया कि देश में सब खुशहाल हैं, सारा देश मालामाल है, बर्गर, पिज्जा, थाई मंचूरियन से बाजार अंटा पड़ा है, शीतल पेयों की सनसनी ताजगी का समंदर ठाठें मार रहा है, लेकिन यह जन-आकांक्षाओं का चरम अमूल्यन नहीं तो और क्या है कि वह सूखी रोटी और चुल्लू भर पानी में ही छपकोरियां मारता रह जाए?’ तो ये है देश के कर्णधारों की शतुमुर्गी मानसिकता और सत्ता पर काबिज रहने की अदम्य लालसा, जिसे सूर्यबाला ने बेलिहाज उन्हीं की आत्म-बयानी में हूबहू दर्ज कर दिया है। कुछ इसी तरह की रंगत उनकी एक और प्रभावशाली व्यंग्य रचना ‘सिफर हो गई राजनीति और सूत-उवाच’ में भी देखी जा सकती है, जहां उन्होंने मिथकीय चरित्र सूतजी और उनके नैमिषारण्य स्थित शौनक आदि ऋषियों की प्रैस वार्ता के माध्यम से मौजूदा राजनीति के चरित्र की वास्तविकता को उजागर किया है। इस रचना में उन्होंने सूतजी की जुबानी देश में तहस-नहस हो चुकी सामाजिक समरसता और आम जनता की भयावह दशा का खाका कुछ इन शब्दों में खींचा है - “यों कुल मिलाकर स्थिति सामान्य है और जबरदस्त अलग-अलग झंडों, अलग-अलग तंबुओं के नीचे, संगीनों के साये में दीन-हीन, निर्दोष और भोले-भाले बच्चे, औरत, मर्द भय से थर-थर कांपते हुए आत्मा की परमात्मा पर विजय के गीत गा रहे हैं। गीत के बोल अलग-अलग हैं, किन्तु भावार्थ एक ही है अर्थात् झंडा ऊंचा रहे हमारा, देश भाड़ में जाए सारा?” कहना न होगा कि सूर्यबाला जी के व्यंग्य-लेखन का यह मूल स्वर न होते हुए भी मौजूदा राजनीतिक हालात पर जिस तरह उन्होंने बेबाक और मारक व्यंग्योक्तियों की हैं, उसमें उनकी रचनाशीलता का एक प्रभावशाली पक्ष उभरकर सामने आता है। उल्लेखनीय बात यह कि हिन्दी के मौजूदा व्यंग्य लेखन और स्वयं उनकी अपनी कथा-रचनाओं में यह तेवर प्रायः कम ही देखने को मिलता है।

अंत में सूर्यबाला के व्यंग्य-लेखन के बारे में जाने-माने व्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी की

यह फलैप टिप्पणी मुझे बेहद सटीक लगती है कि 'सूर्यबाला का व्यंग्य उनका अपना है और इस कदर अपना है कि उस पर महानपूर्वजों की शैली या कहन की छाया भी नहीं है। वे अपना कद तथा अपनी छाया स्वयं बनाती हैं, जो उनके व्यंग्य को अपने पाठक से सीधे जोड़ देती है।'

71/247, मध्यम मार्ग,
मानसरोवर, जयपुर-302020

□ □

तथाकथित सभ्य समाज की विद्रूपताओं को उकेरती सूर्यबाला की कहानियाँ

डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

सुप्रसिद्ध कथाकार सूर्यबाला का लेखन समकालीन रचनाकारों, समीक्षकों व साहित्य के मर्मज्ञों से अछूता नहीं रहा है। इनकी कहानियाँ सहज और बिना लाग लपेट, सीधे समाज के यथार्थ की परतें खोलने में सक्षम हैं, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—‘मेरी अधिकांश कहानियाँ लाउड लहजे से परहेज बरतती हैं। बेहद सीधे-सादे ढंग से (लेकिन सपाट नहीं) अपनी बात कहने में विश्वास रखती हैं।’ (सूर्यबाला : चुनी हुई कहानियाँ, भूमिका) इन कहानियों में जीवन के विविध पक्षों को एक साथ देखा जा सकता है। इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समसामयिक व ज्वलंत विषयों को उठाया है। इनके कहानी संग्रह ‘सूर्यबाला : चुनी हुई कहानियाँ’ से गुजरते हुए एक बात तो साफ हो जाती है कि लेखिका अपने आस-पास के लोगों की दिनचर्या पर पैनी दृष्टि टिकाए हुए है। इनकी हालात के हाथों विवश व असहाय व्यक्ति की स्थितियों को अभिव्यक्त करती कहानियों में ‘गौरा गुनवंती’, ‘रहमदिल’, ‘क्या मालूम’ और ‘बाऊ जी और बंदर’, हैं। ‘पूर्णाहुति’, ‘न किन्नी न’, ‘एक स्त्री के कारनामे’ और ‘आदमकद’ स्त्री जीवन की व्यथा कथा को उकेरती कहानियाँ हैं। ‘मेरी शिनाख्त’ और ‘रेस’ धन और प्रतिष्ठा की होड़ को व्यक्त करती कहानियाँ हैं। ‘माय नेम इश ताता’ कहानी बच्चों पर शिक्षा के बढ़ते दबाव को व्यक्त करती है। ‘होगी जय हे पुरुषोत्तम नवीन’ व ‘दादी व रिमोट’, ‘फरिश्ता’ और ‘शहर की सबसे दर्दनाक खबर’ समसामयिक विषयों को उकेरती कहानियाँ हैं।

‘गौरा गुनवंती’ कहानी नारी जीवन की विडंबनाओं का लेखा-जोखा है। इसमें संवेदनाएँ अपनी चरम पर दिखाई देती हैं। गौरा एक अनाथ बच्ची है; जिसका पालन-पोषण उसकी ताई द्वारा किया जाता है; जिनके साथ पहले से ही उसके बहू-बेटे और उनके दो बच्चे रहते हैं। इन सब के बीच रहते हुए वह अपने साथ होते दोगम दर्जे के व्यवहार से भलीभाँति परिचित हो जाती है। लेकिन वह किसी प्रकार की शिकायत किए बिना; इसे नियति का वरदान समझती है। वह पढ़ने-लिखने में बड़ी तेज है और हमेशा अपनी कक्षा में प्रथम स्थान पर रहती है।

यह कहानी अपने संबंधियों के बीच रहते हुए जीवन जीने के सलीके सिखाती है। गौरा अपने ताई के यहाँ रहते हुए आगे का जीवन व्यतीत करती है। इस दौरान वह अपनी सारी इच्छाओं का दमन ही नहीं करती बल्कि अपने बचपन को ही तिलांजली दे देती है। वह हमेशा अपने ख्यालों में ही खोई रहती है। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करती जिससे कोई हर्ट हो जाय। वह स्कूल जाने से पहले चुपचाप घर के सभी कार्यों को बिना किसी अपेक्षा के निपटा देती है। इसीलिए उसकी ताई उसे समझाते हुए कहती है — ‘पढ़ लिख कर गुनवंती बनते हैं। समझी न गौरा बिटिया। किसने कहा मास्टरनी मारती है। अरे तू तो अच्छे नंबर लाएगी न इनाम मिलेगा समझी’। (गौरा गुनवंती, पृष्ठ-14)

गौरा अपनी ताई से अगाध प्रेम करती है। वह ताई के प्रति अपनी भाभी के व्यवहार से तब हतप्रभ रह जाती है; जब भाभी अपनी बेटी सुमन को बीमार दादी (ताई) के कमरे में जाने से रोक देती है। सुमन के पूछने पर वह कहती है “कह दिया ना खराब बीमारी है !अब मैं क्या दुनिया भर की बीमारियों का नाम याद किए बैठी हूँ! और यह भी कि – कमरे में ज्यादा आने-जाने की जरूरत नहीं उनके, समझी। (गौरा गुनवंती, पेज 19) बीमारी के वक्त बीमार को जब परिवार के लोगों की सहानुभूति की आवश्यकता होती है; उस दौरान यदि परिवार के लोगों का व्यवहार इस तरह का हो तो; बीमार व्यक्ति को बीमारी से अधिक ऐसे लोगों का व्यवहार कष्टप्रद लगता है। अपने प्रति गौरा के त्याग को देखकर ताई काफी प्रसन्न हैं और अब उन्हें गौरा के भविष्य की अधिक चिंता होने लगती है। जब गौरा ताई को दवा पिलाने उसके कमरे में गयी; तो देखती है कि “ताई तक्रिए से उठंगी, आकाश की ओर हाथ जोड़े बैठी थीं। खिड़की से झाँकते आकाश के उस छोटे से टुकड़े के माध्यम से ही उन्होंने शायद ईश्वर तक अपना संदेश भेजा था। उस क्षण भी उनकी आँखों में न हर्षातिरेक के आँसू थे, न ओठों पर मुस्कान, बस एक सौम्य कृतज्ञ भाव था” (गौरा गुनवंती, पेज 21)। इधर ताई की बीमारी को देखते हुए; उसकी देखरेख करने के लिए गौरा स्कूल छोड़ देती है। इससे ताई बहुत दुखी होती है किंतु उसकी भाभी खुश हो जाती है। उसे अब महरिन का काम भी खटकने लगता है। वह महरिन पर झल्लाती हुई कहती है — “अरे ई गौरा ने मुझे संभाला है, नहीं तो तुम जैसी दाई--मजूरिन तो बस.....” (गौरा गुनवंती, पेज 20)

इस प्रकार गौरा गुनवंती पारिवारिक परिस्थितियों पर केंद्रित कहानी है। जहाँ गौरा के सगे संबंधी ही उसके भविष्य की चिंता किए बगैर उसे तरह-तरह के कार्यों से लाद देते हैं।

‘बाऊजी और बंदर’ भी पारिवारिक प्रसंगों पर केंद्रित कहानी है। इसके केंद्र में बाऊजी हैं। जो अपने नाती-नातिन से बहुत प्रेम करते हैं। वे उन्हें एक पल के लिए भी अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहते हैं किन्तु उनके बेटे व बहू को बाऊजी बोझ

से लगने लगते हैं। इसीलिए बहू अपने पति से कहती है — ‘मैंने अक्ल और तिकड़म भिड़ाई कि गाँव जाकर अपनी जगह-जमीन देखिए, इस तरह ज्यादा दिन तक छोड़ देंगे तो काशतकार बेदखल कर हड़प बैठेंगे। बैठे-बिठए हजारों का नुकसान। सो बीच-बीच में निगरानी बनाए रखनी चाहिए।’ (बाऊजी और बंदर, पृष्ठ -170) आज हम देखते हैं कि सास-ससुर को साथ नहीं रखने का ठीकरा अक्सर बहू के ऊपर फोड़ दिया जाता है। बेचारी बहू अकेले ही बदनाम हो जाती है लेकिन लेखिका आधुनिक पुत्रों की मानसिकता को भी हमारे समक्ष रखती है। ललित पिता को पहुँचाकर आने के बाद पत्नी से कहता है। ‘जानती हो, उस वक्त मैं क्या सोच रहा था? सोच रहा था कि बाऊजी की इस मोह मुद्रा पर अगर एक सच्चे पितृभक्त पुत्र की भाँति मैं पसीजकर कह दूँ कि, ‘आपका मन नहीं कर रहा तो मत जाइए...गोली मारिए उस हील-हुज्जतों—भरे जमीन के टुकड़ों को...चलिए घर वापस, बच्चों के पास...’ तो उनको वापस देख तुम्हारी क्या हालत होती — हा-हा-हा...लेकिन उसकी जगह एक सच्चे पत्नी भक्त की तरह मैंने कहा, अरे..अरे..आ पाएंगे आप। (बाऊजी और बंदर, पृष्ठ -171) ये वही पुत्र है जिसे माता-पिता ने रात-रात भर जगकर अपनी सभी इच्छाओं को ताक पर रख इसकी इच्छाओं को पूरा करने के लिए जुटे रहे और इसे पत्नी भक्त बनने तक की स्थिति पर लाकर खड़ा किया। जबकि बाऊजी इनके साथ रहते हुए छतरी ताने, शानू-शौनक को उगली पकड़कर स्कूल ले जाना और ले आना करते थे; फिर चाहे धूप हो, या बारिश हो, सुस्ती हो, हरारत हो। इतना ही नहीं पिछवाड़े क्यारियाँ खोद-खोद कर कितने टमाटर, बैगन, भिंडी, पालक लगाया करते थे।

इसी बीच ललित का प्रमोशन हो जाता है और वह नए घर में पहुँचने पर देखता है कि बंदरों से पूरे घर की छत भर गई है। तभी उन्हें पिता की याद आती है कि उनके आने के बाद वे इन्हें भगाने का काम करेंगे। शानू और शौनक जब बाबूजी को सब्जियों के बीजों की कुछ पोटलियाँ निकालते हुए देखते हैं तो तुरंत कह उठते हैं ‘वापस रखिए, वापस ! कुछ नहीं बोना-शोना है अब। आपको पता नहीं? पापा का प्रमोशन हो गया है। अब हमारे यहाँ माली आता है। आपको अब सिर्फ बंदर भगाने हैं और कुछ नहीं समझे!’ (बाऊजी और बंदर, पृष्ठ -175) बाऊजी बंदर भगाने में असफल होने पर बहू और बेटे के कोप का शिकार बन जाते हैं। बंदर हर चार-छः दिनों में आकर फूल-पत्ते नोचते हैं और क्यारियाँ उजाड़ डालते हैं। अब बच्चे भी बाऊजी को ‘डरपोक’ कहकर चिढ़ाने लगते हैं। घर के अन्य सदस्यों का स्वभाव भी बाबूजी के प्रति विपरीत दिखाई देने लगता है। अब खाना नास्ता उन्हें दिया नहीं जाता; उनके सामने डाल दिया जाता है। और वे चुपचाप खाकर खिसक लेते हैं। अर्थात् बाबूजी के फिर से गाँव जाने की नौबत आ जाती है। इसी बीच ललित को दस दिनों के लिए साइट पर जाने का आर्डर आता है, जिसमें बीवी-बच्चों को भी साथ ले जा सकते थे। इस बात से ललित बहुत खुश है। वह पत्नी से कहता है “खासी पिकनिक और सबसे बढ़कर ‘घर’ की रखवाली के लिए पंद्रह रुपये

रोज का चौकीदार ढूँढने की जरूरत नहीं — बाऊजी तो हैं ही! (बाऊजी और बंदर, पृष्ठ-181) वहाँ से लौटते हुए ये बाऊजी के बारे सोचते हैं कि उनके दिन किस प्रकार कटे होंगे। लेकिन घर पहुँचते ही पूरा दृश्य बदला हुआ देखते हैं — बारामदा पूरा छोटे-बड़े बंदरों से घिरा हुआ था और बाऊजी दरवाजे से सटी चौकी पर कटोरे-भर भीगे चने रखे मुट्टी भर-भर बंदरों को खिला रहे थे। बंदरों के बच्चे मगन मन अपनी खुशी का इजहार करते बाऊजी के सामने कलामुंडियों पर कलामुंडियाँ खा रहे थे, खूब लाड़। और बाऊजी एकदम अभिभूत नेत्रों से उन्हें देखे जा रहे थे।' (बाऊजी और बंदर, पृष्ठ-183-84) इस प्रकार बेटे-बहू और नाती-पोतों द्वारा बंदरों को लेकर बाऊजी का मजाक उड़ाते दृश्य बाऊजी को इतना आघात पहुँचाते हैं कि वे जिन बन्दरों के नजदीक जाने से घबराते थे; आज उन्हीं के साथ खेलता देख ये सभी आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि इन बंदरों का 'अगाध प्यार' बाऊजी को भावविभोर कर देता है।

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास होता है। अब प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की जिम्मेदारी है कि वह अपने साथ-साथ अपने आस-पास के लोगों को सही दिशा दे। ताकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सहज जीवन जी सके। लेकिन आज शिक्षित व्यक्ति इसके ठीक विपरीत दिशा में काम कर रहा है। जिसके चलते अशिक्षित व्यक्ति के साथ-साथ वह भी उतना ही परेशान दिखाई देता है। लेखिका ने इस स्थिति को 'रहमदिल' नामक कहानी के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है। इसमें बताया गया है कि एक टिकट कलेक्टर भी सामान्य व्यक्ति की गरीबी व दयनीय अवस्था आदि की चिंता किए बगैर उनके खून परीने की गाढ़ी कमाई पर अपनी गिद्ध निगाहें टिकाए हुए दिखाई देता है। रहमत अपने परिवार के साथ मुंबई से गाँव जा रहा है। गाँव का टिकट निकालने के लिए वह कई घंटे लाइन में खड़ा रहता है और जब सफर के दौरान टिकट बाबू आता है। तो वह रहमत अली की जाहिली का फायदा उठाकर उसे लूटने की योजना बना लेता है और कहता है -- हमारे रजिस्टर में आर. अली (रहमत अली) लिखा है अच्छा बाद में देखेंगे। पहले इन लोगों को निपटा लें। तुम्हारे में टाइम लगेगा। (रहमदिल, पेज-54) भोला-भाला रहमत बेचारा अब भी यह विचार नहीं करता है कि दो बार चैक होने के बावजूद टिकट में नाम गलत कैसे हो सकता है। बल्कि टिकटबाबू की बात पर विश्वास कर सोचता है कि रिजर्व कराते वक्त टिकट बाबू लापरवाही कर गया होगा और नाम गलत टाइप कर दिया होगा। तभी सामने बैठे यात्री ने उसका टिकट देखा तो उसमें आर. अली ही था। उसने बताया कि तुम्हें सीधा बेपढ़ा-लिखा समझकर टिकट बाबू बेवकूफ बना रहा है। रहमत अली जब इसका विरोध करता है तो टिकट बाबू उसे पीटता ही नहीं है बल्कि पुलिस के हवाले करते हुए, उस पर झूठे आरोप लगाता है — "गलत नाम से टिकट लिया है. गैर-कानूनी काम कैसे होने देता !..... और सही नाम पूछने पर यह जंगली गँवार गाली बकने लगा टी.सी. को।'"(रहमदिल, पेज-54) इस प्रकार रहमत अली इनके कोप का

शिकार बन जाता है। अंततः पुलिस के संकेतों पर सौ रुपए में समझौता होता है; जिसे रहमत पुलिस वाले की मेहरबानी समझकर सुकून की साँस लेता है।

‘क्या मालूम’ एक वृद्ध स्त्री की यादों से जुड़ी कहानी है। आज का जीवन विचित्रताओं से भरा हो गया है। मनुष्य समय रूपी ढंडे के आदेश पर नाचने वाली कठपुतली बनकर रह गया है। इस भूमंडलीकरण के दौर में उसका जीवन अस्थिर हो गया है। वह अपनी इच्छाओं व भावनाओं के आगे नतमस्तक होता जा रहा है। उसे जीवन के हर पड़ाव पर समझौते करने पड़ते हैं। इसीलिए चिल्लू की दादी आज अपने बंगले को बिकता हुआ देख काफी व्यथित हो जाती है। घर भर में इस बात की सबसे अधिक खुशी सिर्फ बहू को ही रही है। वह अपनी व्यथित सास का दिल रखने के लिए कहती है — ‘अरे जानती हैं मम्मी। एक बहुत अच्छा, बेहद शरीफ खरीददार मिल गया। हम जैसा चाहते थे न, कि नाना जी की हवेली किसी खानदानी के हाथों में जाए --- और कीमत भी उनके पूछने पर राहुल ने तो यों ही अठारह लाख बोल दिए कि बारगेन तो करेंगे ही... लेकिन वो तो बस उतने पर ही मान गए.. यहीं आस पास ही किसी अगली-पिछली गली के हैं। क्या नाम बताया राहुल ? ... अम्मी ! हम उनको शाम की चाय पर बुला रहे थे। मैंने कहा आइये न, मम्मी को आपसे मिलकर बहुत खुशी होगी।’ (क्या मालूम, पृष्ठ-150) ये वही माँ है जिसकी इस घर से अनेकों यादें जुड़ी हैं। जिसके बिकने के नाम पर ही इनका अंतस व्यथित हो जाता है। इस बात की न तो बहू को चिंता है और न ही बेटे को। ये लोग भी समय की लाठी से हाँके गए मजबूर लोग हैं।

हमारे समाज के विकृत मानसिकता वाले सदस्यों द्वारा आज भी बेटियों के साथ दोगम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। आज भी दहेज आदि को लेकर लड़की व लड़की के पिता को प्रताड़ित किया जाता है। सूर्यबाला की ‘पूर्णाहुति’ एक बेटे के विवाह की चिंता को लेकर लिखी गई कहानी है। लेकिन यहाँ बेटे अपने विवाह के दौरान ससुराल वालों द्वारा दी जाने वाली यातनाओं के बीच पिसते पिता को लेकर व्यथित हो जाती है। पिता को विवाह सम्पन्न करने के पश्चात प्रातः बेटे की विदाई से कुछ समय पूर्व यह खबर मिलती है कि वर पक्ष वाले दहेज की माँग पर अड़ गए हैं तभी वे सोचते रह जाते हैं कि — ‘नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है? मित्र धोखा नहीं दे सकता। उसने पूरी तरह आश्वासन किया था... और खुद वर के पिता ने भी तो।’ (पूर्णाहुति, पृष्ठ-63) जब दुलहन के पिता (मास्टर जी) पर आई विपदा का पता उनके शुभ-चिंतकों को चलता है, तो वे बौखला उठते हैं। वे मास्टर के उसूलों को दम तोड़ते नहीं देख सकते। वे चाहते हैं कि ऐसी स्थिति में दूल्हे को सामने आना चाहिए लेकिन तभी पता चलता है कि दूल्हा पितृ भक्त है। इन स्थितियों को देख वहाँ उपस्थित एक व्यक्ति कह उठता है — ‘ये सब बहाने हैं — भक्ति के... सबसे ज्यादा आदर्श और अनुशासन इन नौजवानों को ऐसे ही वक्त सूझता है, धिक्कार है ...’ (पूर्णाहुति, पृष्ठ-65) लेकिन कुछ देर में पता चलता है कि लड़के के मामा

व लड़की के पिता के मित्र के साथी वहाँ पहुँचकर स्थितियों को सभाल लेते हैं। यह सुन पिता प्रसन्न हो जाते हैं कि बेटी पूर्णाहुति होने से बच गई है। तभी बेटी का विवेक जाग उठता है। वह अपने पिता को उन्हीं की बातें याद दिलाते हुए कहती है — ‘आप भूल गए ‘आप ही ने तो समझाया है हमें कितनी बार.....कि सुख और दुख तो मन की स्थितियाँ हैं।.....हम कोई बिजली का स्विच दबाते ही झट से खुश नहीं हो सकते। नहीं न! तो समझ लीजिए मैं इतनी जल्दी अपने आपको सम्मानित की श्रेणी में खड़ा नहीं कर पाऊँगी। सिर्फ बटन दबाकर ‘दूसरे’ मुझे नहीं खुश कर पाएँगे; खुद मेरे अंदर भी यह अहसास होना जरूरी है।... मुझे भी तो यह खुशी महसूस होनी चाहिए.....कि नहीं?’ (पूर्णाहुति, पृष्ठ - 68) इस प्रकार लेखिका ने इस कहानी के माध्यम से स्त्री की इच्छाओं को प्राथमिकता दी है; साथ ही दहेज लोभियों और स्त्री शोषकों के लिए सबक भी।

आज समाज में रिश्तों की कोई अहमियत नहीं रह गई है। चारों ओर पैसे का वर्चस्व ही दिखाई दे रहा है। फिर चाहे वह परिवारिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र ही क्यों न हो। समाज में लगातार नैतिक मूल्यों का पतन होता जा रहा है। उच्च आदर्श व मूल्यों का स्थान धन ने ले लिया है। आज ‘बाप बड़ा न भैया सबसे बड़ा रुपैया’ वाली तर्ज पर समूचा समाज उन्मुख होता दिखाई दे रहा है। ‘न किन्नी, न’ कहानी समाज की इन्हीं विद्रूपताओं के खोखलेपन को उकेरती कहानी है। इसके अंतर्गत लेखिका ने रिश्ते नातों व भाईचारे के स्थान पर स्वार्थ, संकुचित विचार और गुलाम बनाने की प्रवृत्ति के वर्चस्व को अभिव्यक्ति दी है। इस कहानी की प्रमुख पात्र ‘किन्नी’ है। वह एक मेधावी छात्रा है। उसकी मौसी सम्पन्न घराने में व्याही जाने के कारण सभी सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण है। वह जब भी उनके यहाँ आती सामान और सौगातों से लदी-फँदी ही आती लेकिन गौर करने की बात यह है कि इन सभी सामानों और सौगातों का अस्सी प्रतिशत भाग पुराना ही होता था। जिसका उपयोग उनके बच्चे कर चुके होते थे। आज वह अपनी बेटी रोजी के लिए लड़का देखने आई है। लड़के वालों के संदर्भ में उनकी यह अवधारण है कि ‘पहले उन पर अपनी शान-शौकत, मान-रुतबे का असर डाला जाए, फिर रूप रंग नाक-नक्श में तो छुपाने की कोई बात रह नहीं जाती है।’ (न किन्नी न, पृष्ठ-91) लेकिन मौसी की यह अवधारणा तब व्यर्थ साबित हो जाती है जब लड़के ने सीधे सबसे पहले लड़की की लम्बाई और दुबलेपन की बात की। अमीर व्यक्ति अपने पैसे की ताकत के समक्ष कभी हार नहीं मानते हैं। वे अपना उल्लू सीधा करने के लिए न तो अपने सगे संबंधियों की चिंता करते हैं और न ही अपने आस-पास के समाज की।

किन्नी बगल के कटरेवाली चाची के भतीजे (आकाश) से प्रेम करती है जैसे ही मौसी को पता चलाता है कि आकाश गरीब होने के बावजूद रिसर्च कर रहा है। वह अकाश के विचार व उसके परिवार की स्थितियों का जायजा लेने चाची के घर पहुँच जाती है। किन्नी व उसकी माँ तब अर्धविक्षिप्त-सी हो जाती हैं, जब इसके ठीक दो हफ्ते

बाद ही पता चलता है 'कि रोजी की शादी तय हो गई है। अगले महीने की इक्कीसवीं या तेईसवीं को। शादी के बाद आकाश यहाँ की रिसर्च छोड़कर बाकी बची रिसर्च जर्मनी में करेगा। यहाँ का एक वर्ष भी उसमें जोड़ लिया जायेगा। वहाँ उसे यहाँ से चौगुनी स्कॉलरशिप मिलेगी। मौसाजी के एक दोस्त हैं वहाँ, सब एडजस्ट करा देंगे। आकाश के एक-दो महीने बाद ही रोजी भी चली जाएगी।' (न किन्नी न, पृष्ठ-93) हद तो तब हो जाती है जब रोजी तीसरे बच्चे के जन्म के साथ ही हार्ट फेल के कारण चल बसती है और तब उसकी मौसी चाहती है कि किन्नी आकर रोजी के बच्चों को सँभाले। पहले तो यह सुन किन्नी स्तब्ध रह जाती है किन्तु काफी लम्बे समय से अपने भाभी के तानों का स्मरण होते ही वह प्रातः सबसे पहले माँ के समक्ष मौसी का प्रस्ताव स्वीकार कर लेती है और उसके पश्चात खुली आँखों से सपना देखने लगती है कि "मौसी आई हैं,..... पूरे आत्मविश्वास के साथ मुझे कुछ थमाती हुई कह रही हैं — यह ले किन्नी! धूसर आसमान का यह टुकड़ा! जरा इसे धो—पोछ देगी ना तो सुधर सँवर जाएगा। रोजी ने इसे सिर्फ दस साल ही तो इस्तेमाल किया होगा। मैंने सोचा, इसे तेरे लिए लेती चलूँ, तुम पर खूब फबेगा!" (न किन्नी न, पृष्ठ-99) इस प्रकार लेखिका ने किन्नी के माध्यम से गरीबी के समक्ष किन्नी के समझौता करने की स्थिति को अभिव्यक्ति दी है। जबकि किन्नी को इस स्थिति से उबारा जा सकता था।

'आदमकद' एक ऐसी औरत की कहानी है जो न तो सुंदर है, न ही उसमें सुघराई ही है, न लोच, और न ही भंगिमाओं का जादू ही। वह शरीर से आदमकद और मजबूत कदकाठी की है। उसका पति कामता मामा नशाखोर है। उसके लिए उसके पति का होना या न होना एक समान ही है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति मौका मिलते ही उसके समक्ष उसके कामचोर पति के संदर्भ में बात करने लगता है। तब वह कह उठती है — "वह बेगैरत है तो, मेरा मर्द है। रहने दो उसे, जैसा भी वह है। मेरी आँखों के सामने मत छोटा करो उसे। औरत के लिए इससे बड़ी जहालत कोई नहीं कि सारी उम्र वह अपने आदमी की काहिली और बोदेपन पर ली जाती लिहाड़ी बरदाश्त करती रहे।" (आदमकद, पृष्ठ-135) वह पति की हरकतों को देखते हुए; आजीविका के साधनों की खोज में निकल पड़ती है। इसी बीच वह गर्भवती हो जाती है। शहर में बहुत अधिक सफलता न मिलने के कारण वह गाँव जाकर गृहस्थी बसाने का निर्णय ले लेती है। एक दिन लाजवंती देखती है कि उसके घर के बाहर इक्के पर एक मुर्दा पड़ा है, जिसे देख वह सिहर उठती है लेकिन मुर्दे के बगल में बैठी उसकी भाभी की आँखें कह रही थी कि 'जिंदा यह कब था' (आदमकद, पृष्ठ-138) यह वाक्य उस स्त्री के दर्द को बयान करता है जो किसी भी परिस्थिति में अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होती है। वह ऐसी स्थिति में भी किसी को दोष नहीं देती; बल्कि उसका समाधान ढूँढने का प्रयास करती है। इसीलिए कामता की पत्नी लाजवंती से कहती है कि — कोई लाचारी वाली बात नहीं। वह जिंदा होता, तब भी में

अपने बच्चे को उसके साये तले नहीं पालती। शायद तुम्हारे ही पास लाती। यहाँ स्कूल में भर्ती करा दो..... मुफ्त में नहीं जो खर्च करना, उसका राई-रती हिसाब देना। पाई-पाई चुकाऊँगी। गाँव में अरहर, मकई उगाऊँगी। अमरूद अनार उतारूँगी। सौ-पचास के तो कुम्हड़े लौकी ही हो जाएँगी...।’ (आदमकद, पृष्ठ-139) उसके पश्चात वह अपने सभी दुखों से ऊपर उठकर अपने आप में खो जाती है और विचार करने लगती है कि ‘किसी की चहेती और लजीली औरत बनकर दिखा पाना मेरे बस में नहीं था...यह काया सबसे बड़ी बाधा थी मेरे लिए। लेकिन माँ बनकर दिखा पाना तो मेरे हाथ में है न। माँ — बेटे के बीच कभी बदसूरत काया बाधा नहीं बनती। यह बहुत बड़ा फर्क है, मर्द और औलाद में....’ (आदमकद, पृष्ठ-140) इस तरह लेखिका समाज में औरत से जुड़े रिश्तों की पड़ताल कर इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि स्त्री को समाज में औलाद से बढ़कर अधिक सुख और सम्मान कोई नहीं दे सकता।

‘एक स्त्री के कारनामे’ के माध्यम से लेखिका ने स्त्री के उस गुण को मुखरित किया है जिसकी अपेक्षा हर स्त्री को अपने पति से होती है। वह चाहती है कि उसका पति उस पर हुकम चलाए। उसके कार्यों में हस्तक्षेप करे। एक तरफ आज स्त्री विमर्श की आँधी चल रही है। जहाँ स्त्रियों को शोषण से मुक्ति और उसके अधिकारों की बात की जाती है। उन पर हो रहे घरेलू अत्याचारों की बात की जाती है। ऐसे समय में यह कहानी अपने आप में महत्वपूर्ण बन जाती है। आखिर स्त्री किस माहौल में अपने आप को सहज महसूस करती है? यहाँ लेखिका ने एक ऐसे पति का उल्लेख किया जो अपनी पत्नी के सभी प्रश्नों के जवाब बड़ी ही सहजता और शालीनता से देता है। उसके किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता है। इसके बावजूद भी उसकी पत्नी उससे शिकायत करती है कि — ‘आप तो मुझसे कभी बात ही नहीं करते, सारा समय अखबार, टी. वी., कम्प्यूटर, फोन.....।’ (एक स्त्री के कारनामे, पृष्ठ-117) लेखिका का मानना है कि सभी स्त्रियाँ अपने पति से अपने कार्यों के प्रशंसा की अपेक्षा करती हैं। साथ ही यह भी कि वे उनके सामने अपनी इच्छा प्रकट करें। ताकि वह उन्हें खुशी-खुशी पूरा कर सकें। इस कहानी की नायिका को यह बात बिलकुल पसंद नहीं आती है। वह जब अपने पति से यह पूछती है कि चाय बनाऊँ ‘पीएँगे’? पति का हाँ, पी लूँगा। यह सुनते ही वह एकदम उबल पड़ती है और कहती है — पी लूँगा... क्या मतलब! कोई अहसान करोगे क्या मुझ पर? ‘कायदे से यह नहीं कह सकते थे कि हाँ-हाँ, बनाओ !..... मेरा भी दिल कर रहा है चाय पीने का।’ (एक स्त्री के कारनामे, पृष्ठ -118) इस प्रकार लेखिका का मानना है कि परिवार में सजीवता लाने के लिए पति-पत्नी को अपनी इच्छाएँ एक दूसरे पर व्यक्त करनी चाहिए। ताकि उन्हें पूरा करते हुए उनमें उत्साह बना रहे।

‘मेरी शिनाख्त’ वर्तमान समय में पैसों की होड़ में लगे व्यक्ति की मानसिकता को अभिव्यक्त करती कहानी है। आज समाज के प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति स्वार्थी होता जा रहा है

उसके लिए पैसे से बढ़कर कोई रिश्ता नहीं है। इसीलिए केसोराम जब अपने पिता को गाँव में पैसे भेजता है तब उसकी मालकिन विमी उससे कहती है कि अपने बदले हुए नाम (केशी) के सामने ब्रैकेट में अपना पूरा नाम लिख दिया कर ताकि तेरा बाप यह जान सके कि तू उसका ही बेटा है तभी केशी तपाक से उत्तर देता है — ‘फिकर नई करो साब-दुनियाँ को पैसा चाहिए..... बेटा-बेटी नहीं मेम्साहब।’ (मेरी शिनाख्त, पेज - 34)। केशी समाज की वर्तमान स्थितियों से भली-भाँति परिचित है। वह पूर्ण विवेक के साथ अपने कार्यों को पूरा करता है। इसी विवेक के चलते वह आस-पास के नौकरों का लीडर बन जाता है और उनके समक्ष इस दर्शन को रखता है ---- ‘दुनियाँ पैसे की है भइए पैसे की.....पैसे जुटा.....पैसे से जिसका भी मुँह जब तक चाहे बंद रख सकता है।’ (मेरी शिनाख्त, पेज - 34) केशी समाज की यथार्थ स्थितियों से भलीभाँति परिचित है इसीलिए उसके लिए शादी, बीवी-बच्चे सब कुछ पैसा ही है।

इसी कहानी में दूसरी ओर ‘मेनका एक्सपोर्ट’ के चीफ एग्जीक्यूटिव मिस्टर कुमार की दृष्टि में मात्र सुंदर लगने से कुछ नहीं होता। इसके साथ-साथ स्मार्ट और विशिष्ट लगना जरूरी है। इसीलिए वह अपनी पत्नी के लिए ढेर सारी किताबें ले आता है; जिनमें जीवन में कामयाब होने के नुस्खे दिए गए हैं। आज बढ़ती जा रही विलासिता की वस्तुओं तथा बाजार की चकाचौंध ने व्यक्ति को अवसरवादी व स्वार्थी बना दिया है। कुमार अपनी पत्नी विमी से कहता है --- ‘मेरी कामयाबी की मंजिल अभी बहुत ऊंची है विमी.....कल्पना करो और भी बड़ा घर, इंपोर्टेड कार, शोफर, साल में दो वर्ल्ड टूर.....’ (मेरी शिनाख्त, पेज-36)

आगे बढ़ते रहने की होड़ कुमार को इस हद तक गिरा देती है कि वह अपने परिवार को भी इसमें झोंकने में संकोच नहीं करता। अब वह अपनी पत्नी को यह हिदायत देता है कि पार्टी में कौन से कपड़े पहनकर जाना है और वहाँ जाकर लोगों से किस तरह बातें करनी हैं। ताकि किसी भी मोर्चे पर उसे किसी से कम न आँका जाय। इस प्रकार आज पार्टी के आयोजनों का उद्देश्य बदल गया है। आज ये मिलन सम्मेलन परंपराओं से हटकर स्वार्थों पर टिक चुके हैं इसीलिए कुमार अपनी पत्नी से कहता है — ‘वैसे भी आज मैंने जितना सोचा था उतना कुछ हो न सका, हडसन से कुछ नए कॉन्ट्रैक्ट्स लेना चाहता था पर वह बास्टर्ड परेरा पूरे समय जॉक की तरह.... चिपका रहा..... शेमलैस.....पार्टी मैंने दी और मुझसे बढ़कर हडसन की वही मिजाजपुर्सी करता रहा।’ (मेरी शिनाख्त, पेज-36)।

इस कहानी में लेखिका ने पुरुष वर्ग की स्त्री के प्रति असंवेदनशीलता को भी अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। पुरुष अपनी पत्नी से अपनी प्रगति के प्रत्येक पड़ाव पर सहयोग की अपेक्षा रखता है किंतु जब पत्नी किसी परेशानी से ग्रस्त हो जाती है तो पुरुष उसे उस

परेशानी से उबारने में सहयोग करने से कतराने लगता है। ऐसी स्थिति में पत्नी भी उसे बोझ सी प्रतीत होने लगती है। कुमार की पत्नी पूरे दिन कुमार द्वारा दिए गए निर्देशों के आधार पर उसके यहाँ आए मेहमानों की खातिरदारी में किसी प्रकार की कमी नहीं होने देती। सभी को ससम्मान विदा करने के पश्चात उसे अपना दर्द याद आता है। जिसे व्यक्त करने के लिए वह कुमार के समक्ष पहुँचती है। कुमार उसके समर्पण की प्रसंसा करते हुए, उसके कंधों को थपथपाते हुए सराहता है; तभी वह दर्द से कराह उठती है। तब कुमार पूछता है — ‘क्या हुआ? ज्यादा थक गई.... जाओ आराम कर लो अब! नहीं.....ब्लड प्रेशर बहुत लो हो गया है। सुबह चक्कर आने लगे तो इंजेक्शन लेना पड़ा.....ओह गुड.....अच्छा किया..... नहीं तो आज मुसीबत ही हो जाती। कुमार संतुष्ट लगे।

इस प्रकार स्त्री पुरुष के रिश्तों की गहराई को लेकर लिखी गई कहानी; इन रिश्तों का पदार्पाश करने में सक्षम है। यहाँ पुरुष के स्वार्थी व्यक्तित्व की पराकाष्ठा को अभिव्यक्ति दी गई है।

‘रेस’ भूमंडलीकरण के दौर की एक सशक्त कहानी है। आज व्यक्ति अपने भविष्य को लेकर अत्यधिक चिंतित दिखाई देता है। वह ‘येनकेन प्रकारेण’ जीवन की हर खुशी को शीघ्रान्ति-शीघ्र बटोर लेना चाहता है। वह लगातार अपने पड़ोस और कार्यालय के साथियों और संबंधियों के बीच अपने को श्रेष्ठ सबित करने की होड़ में लगा रहता है। इस रेस के चलते उसे न अपने स्वस्थ की कोई चिंता रहती है और न ही परिवार की। वह इन सारी सुविधाओं का उपभोग करने के लिए अपनी क्षमता से अधिक काम कर रहा होता है। इसी दौड़ के चलते इनके बच्चे भी इनकी इसी मानसिकता के शिकार हो जाते हैं। इसीलिए सुधीर अपनी पत्नी राशी से कहता है कि — ‘राशी, वर्तमान हमेशा कल को पाने का साधन है बस। कल सुब्रत का अपना एक कैरियर यह भी होगा कि वह शुरू से आखिर तक ‘वैलहम’ और ‘मेयो’ जैसे बड़े खचीलें एरिस्टोक्रेट क्लास के स्कूलों में पढ़ा है। दो-तीन साल बाद ही उसे मेयो स्कूल में डालूँगा।’ (रेस, पृष्ठ -153) आज बच्चों पर माता-पिता व स्कूल द्वारा इतना अधिक दबाव डाला जा रहा है कि उनका कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, कबूतर, फूलों व तितिलियों के पीछे भागता किलकता बचपन गायब हो गया है। दूसरी तरफ सुधीर शर्मा अपने कार्यों व अपने व्यवहार से ऑफिस के सभी अधिकारियों को खुश करना चाहता है। इसीलिए उसकी कम्पनी के चेयरमैन (मेहता जी) के दोस्त बहल के वहाँ आते ही वह उन्हें खाने पर अपने घर आमंत्रित करता है। वह अपनी पत्नी को याद दिलाता है कि ‘इमेजिन! मेहता ने उसके सामने मेरे काम को ‘एडमायर’ किया था कि किस तरह मैं बड़ी हुई जिम्मेदारियों को ‘स्किल’ से हैंडिल कर रहा हूँ।’ (रेस, पृष्ठ -156) लेखिका ने यहाँ पर प्राइवेट फर्मों में प्रमोशन के लिए नियमित रूप से कुशलतापूर्वक कार्य करने पर बल दिया है। यह तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति स्वस्थ हो इसी लिए

मेहता की कही हुई बात उसे बार-बार याद आती है — ‘एक स्वस्थ शरीर ही समस्याओं का सही समाधान ढूँढ सकता है।’ (रेस, पृष्ठ -156) इसीलिए वह डॉ. शिंदे से कंसल्ट करने की योजना बनाता है। इसी बीच वह देखता है कि मेहता बत्रा के प्रति अधिक विश्वस्त दिखाई देते हैं। अब उसे डॉ. शिंदे पर भी शक होने लगता है कि कहीं बत्रा ने इन्हें भी अपने पक्ष में तो नहीं कर लिया है। वह सोचने लगता है — ‘क्यों नहीं हो सकता? कुछ भी हो सकता है। सन्नाटे को फाड़कर एक आवाज चीखती है। जो तुम कर सकते हो, वही दूसरे भी कर सकते हैंतुम कहोगे, तुम्हारे सामने आगे बढ़ने का यही रास्ता है...उसके सामने भी यही रास्ता है ‘सबको रौंदकर, कुचलकर आगे बढ़ जाने वाला रास्ता...।’ (रेस, पृष्ठ -158) आगे चलकर सुधीर देखता है कि उसका शक सही साबित हो जाता है जब मेहता उसके हार्ट पेशेंट होने की बात कहकर एक महत्त्वपूर्ण (प्रिंस एंड कंपनी के साथ) मीटिंग में उसकी जगह मि. बत्रा को भेज देते हैं। मेहता का यह निर्णय सुधीर सह नहीं पाता है। जिस पद व प्रतिष्ठा को पाने के लिए सुधीर ने रात-दिन एक कर दिया था। जिसके चलते सुधीर हार्ट का पेशेंट बन गया। आज उसे छिनता देख वह दुखी हो जाता है। वह एक पराजित योद्धा की तरह बड़ी ही शालीनता के साथ अपनी पत्नी से कहता है — ‘शिंदे का गुस्सा तुम पर उतारा, आयम सॉरी राशी! जो नहीं चाहता था, वही हुआ, अब ऊपर से नीचे तक सारी मिल की सिंपैथी का बोझ ढोऊँगा। मेरी दया की भीख पर जीने वाले अब मुझ पर सहानुभूति दिखाकर मुझसे मजबूत हो जाएँगे। सबकी नजरों में सरेशाम कमजोर करार कर दिया गया, जबकि साबित कुछ और ही करना चाहता था।’ (रेस, पृष्ठ -166)

पत्नी की सलाह पर वे डॉ. शिंदे को छोड़ डॉ. माथुर के पास जाते हैं। कार्डियोग्राम देखते ही डॉ. माथुर के माथे पर पसीने की बूँदें चुहचुहा आई, ‘हैरान हूँ। मि. शुक्ला, किस बूते पर आप अभी तक इतना काम संभाले हैं। आप अब घर नहीं जा सकते, इसी मोमेंट एडमिट होना है।’ (रेस, पृष्ठ -167) इतना सब होने के बावजूद भी सुधीर अपने स्वास्थ्य से अधिक कैरियर को लेकर चिंतित दिखाई देता है। वह डॉ. माथुर से याचना करता है — ‘मेरे...मेरे कैरियर का सवाल है। कम से कम मैं अपने चीफ को अपने कॉफिडेंस में तो ले सकूँ..... आई प्रॉमिस फॉर टुमारो।’ (रेस, पृष्ठ -167) लेकिन दूसरे दिन ऑफिस जाने पर मि. मेहता ने सुधीर से परचेज फाइलें लेकर मि. कपूर को सौंप दी और मार्केटिंग की फाइलें मि. बत्रा को। यह स्थिति सुधीर शुक्ला के लिए असहनीय हो गई और जब थोड़ी देर बाद मिस डोरोथी और ऑफिस के अन्य लोग देखते हैं कि ‘रॉकिंग चियर पर अधलेटा सुधीर शुक्ला अपने दाएँ हाथ से बाया सीना दबए निस्पंद पड़ा टकटकी लगाए मिल की सबसे ऊँची धुआँ उगलती चिमनी की ओर देख रहा था।’ (रेस, पृष्ठ -169) इस प्रकार यह कहानी आज के व्यक्ति की मानसिकता को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम है। आज व्यक्ति अपने कैरियर की चिंता में इस तरह खोया रहता है कि ये

स्थितियाँ उसे अपने पारिवारिक जिम्मेदारियों व स्वास्थ्य की चिंता से दूर कर देती हैं।

‘माय नेम इश ताता’ कहानी समाज में बढ़ते जा रहे एकल परिवारों का प्रतिनिधित्व करती कहानी है। लेखिका ने ताता (सुजाता) नाम की बच्ची के माध्यम से बच्चों के अकेलेपन को अभिव्यक्ति दी है। ताता अपने माता-पिता की अकेली संतान है। उसके माता-पिता दोनों ऑफिस चले जाते हैं और वह पूरा दिन आया के साथ घर पर अकेले ही रह जाती है। जिसके चलते उसमें माता पिता से अधिक आया के गुण आ जाते हैं और वह संकोची स्वभाव की हो जाती है। उसके सवा-डेढ़ साल की होने के साथ ही उसके माता-पिता उसके अच्छे स्कूल में दाखिले को लेकर चिंतित हो जाते हैं। उनकी यह चिंता तब परवान चढ़ती है जब ‘प्रेप’ में दाखिले के दौरान मैडम द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर नीना अपने पति को उसकी स्थिति के बारे में बताते हुए कहती है— ‘ऐसी मनहूस, कट्टू---सी सूरत बनाए बैठी रही पूरे पौने घंटे जैसे कसम खाई हो एक शब्द भी न बोलने की---एडमिशन क्या खाक होता.....।’ (माय नेम इश ताता, पृष्ठ-101) आज समाज में बच्चों को चमक-दमक से युक्त स्कूलों में पढ़ाने का फैसन चल निकला है। नीना भी अपने ऑफिस की मोना दीवान और सपना मजुमदार के बीच अपना रुतबा बनाए रखने के लिए अपनी बेटा का एडमिशन शहर के प्रसिद्ध स्कूल ‘प्रेप’ में कराना चाहती है। इसलिए नीना ताता को दाखिले के लिए जी-जान से तैयार कराती है। इस प्रकार अपने रुतबे को बानाए रखने के लिए आज के माता-पिता को बच्चों की स्वछंदता व रुचि से कोई लेना देना नहीं है।

आज की पीढ़ी ने दफ्तरों में काम के दबाव के चलते अपनी संवेदनाओं, मूल्यों व जिम्मेदारियों को ताक पर रख दिया है। इनकी मानसिकता दिन-प्रति-दिन सीमित होती जा रही है। ये अपने माता-पिता को साथ रखने में बोझ सा महसूस करते हैं। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम इन्हीं के लिए असहनीय हो जाते हैं। इसी के परिणाम स्वरूप इनके बच्चे भी मूल्यहीनता के शिकार हो जाते हैं और उनकी संवेदनाएँ मृतप्राय होती दिखाई देती हैं। आगे चलकर जब नीना व शौनक की आया काम पर आना बंद कर देती है तब ये कठिन परिस्थितियों में फँस जाते हैं। इसी के चलते शौनक को अपनी माँ की याद आती है और वह उन्हें बुला लाता है। इसके पश्चात ताता के व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन दिखाई देता है। इस परिवर्तन को दादा-दादी के स्नेह से विहीन बच्चों में देख पाना असंभव है। जिसे दादी व ताता (पोती) के बीच हो रहे वातालाप से स्पष्टतः समझा जा सकता है ---

‘मैं टाइम से दूहू नहीं पिऊँगी तो तुम बुड्डा बाबा को बुलाओगी न?’

‘नहीं तो! बुड्डा बाबा कौन?’

‘आया बुलाती थी। आया दंदी, बैड गल्ल....दादी। अब आया आए न, तो तुम...

‘नहीं, गेट आउट किसी को नहीं कहते, बुरी बात है।’

‘कैते है। मैं पापा को भी कैती हूँ।’ ताता उत्तेजित होकर बोली।

‘अब नहीं कहना! क्यों कहती हो?’

‘क्योंकि पापा कैते हैं। बताऊँ कैसे? खूब गुस्सा होके ‘ताता! गेट आउट-ऐसे कैते हैं।’ (माय नेम इश ताता, पृष्ठ -112) क्या ये बातें जितनी सहजता से दादी और पोती के बीच हुई किसी अन्य के बीच संभव हैं? इस प्रकार दादी बड़ी ही शालीनता से संस्कार विहीन पोती में संस्कारों का संचरण करती हैं। जिस दादी का स्वागत ताता बुढ़ी अम्मा कहकर करती है। उसी दादी के व्यवहार व संस्कारों का परिणाम है कि पोती कहती है — दादी! तुम मत जाना! प्रॉमिश! इसके पश्चात दादी गाँव खुद न जाकर अपने बेटे से जाने को कहती है — ‘एक—दो दिनों की बात नहीं, यह मेरे और ताता के बीच के भरोसे वाली बात है। विश्वास छोटे या बड़े नहीं हुआ करते ---चाहे बच्चों के हों, या बूढ़ों के।’ (माय नेम इश ताता, पृष्ठ -114) इस प्रकार यह एक बाल मनोविज्ञान पर केन्द्रित कहानी है। लेखिका ने आज के बच्चों की मानसिकता को बड़ी सहाजता से अभिव्यक्ति दी है।

आज एक तरफ हमारी सरकार समाज को भ्रष्टाचार से मुक्त कराने की बात करती है तो दूसरी ओर हमारे सरकारी अधिकारी इस मुहिम को अपनी जान पर खेलकर व्यवहार में लाने की कोशिश करते हैं; तो उन्हें दंडित किया जाता है। हमारी सरकार के इस दोहरे व्यवहार को लेखिका ने ‘होगी जय, होगी जय....हे पुरुषोत्तम नवीन!’ नामक कहानी में व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति दी है। ईमानदार अरुण वर्मा को केन्द्र में रखकर लेखिका कहती है — ‘वाह! जरा सोचो यारो, ईमानदारी और असूल भी अब बकायदे ब्लैक लिस्टेड होने लगे ना.....।’ (होगी जय, होगी जय....हे पुरुषोत्तम नवीन!, पृष्ठ-72) अरुण वर्मा एक ईमानदार अधिकारी है, जब उसकी ईमानदारी पर अंगुली उठाई जाने लगी तो उसके विभाग में हड़कम्प मच जाता है— ‘अरुण वर्मा सर्पेंड हो गए। लेकिन अपना साहब बड़ा नेक दिल है! राजकिशोर बताता था, उन्हें सर्पेंशन लेटर देते समय उनकी आवाज भर्राई थी, उनके हाथ काँपे थे। वरना जंगल का महकमा जंगल से ज्यादा जंगली होता है।’ (होगी जय, होगी जय....हे पुरुषोत्तम नवीन!, पृष्ठ -73) लेकिन इससे लेखिका यह तो साबित करने में सफल हो जाती है कि ईमानदारी आज भी बेईमान व्यक्ति को परास्त करने में सक्षम है। आज ईमानदार व्यक्तियों की भले ही समाज में लगातार संख्या कम होती जा रही है लेकिन इन चंद लोगों की ईमानदारी से प्रभावित जन समूह उनकी स्तुति करते नहीं थकता है ‘विभाग का हर बड़ा-छोटा सहयोगी और कर्मचारी जानता था और यह भी कि अठारह सालों की उनकी नौकरी में कहीं लापरवाही या बेअदबी का एक छोटा-सा धब्बा भी नहीं था। उनके उसूलों, आदर्श और स्वाभिमान की मिसाल पेश की जाती थी। उनकी

बेदाग कलम की इज्जत और शोहरत थी...।' (होगी जय, होगी जय....हे पुरुषोत्तम नवीन!, पृष्ठ - 77) ईमानदार अरुण वर्मा को यह ताकत और साहस अपने पिता से प्राप्त हुआ था। वे बताते हैं कि उनके पिता डिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल थे, शिक्षा विभाग में। एक बार गर्मियों में दौरे पर आए डायरेक्टर के लिए बर्फ का इंतजाम नहीं हो पाया था। गुस्साए अफसर ने पिताजी की मुअत्तली का आर्डर लिख चलता बना। जब उनके मुअत्तली की खबर शहर में फैली तो लोगों का आक्रोश धधक उठा और दूसरे दिन 'अखबार के पहले पृष्ठ पर ही पिता जी की मुअत्तली की खुलेआम भर्त्सना की गई थी, उनकी कार्यकुशलता और निष्ठा के प्रतिदानस्वरूप मिले इस नौकरशाही को शहर के सारे बुद्धिजीवियों, प्रमुख नागरिकों और सहयोगियों ने घोर अत्याचारपूर्ण और अन्यायी ठहराया था...।' (होगी जय, होगी जय....हे पुरुषोत्तम नवीन!, पृष्ठ-78) सूर्यबाला की यह कहानी मुंशी प्रेमचंद के 'नमक का दारोगा' की याद दिला देती है। इस प्रकार लेखिका ने आज भी स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए पारिवारिक संस्कारों को प्राथमिकता दी है।

'दादी का रिमोट' तीन पीढ़ियों के मानसिक स्तर को स्पष्ट करती कहानी है। समाज में तेजी से आ रहे परिवर्तन के चलते गाँव से आई दादी के लिए उसके साथ सामंजस्य बैठा पाना मुश्किल हो जाता है। जनसंचार का यह दौर पुरानी पीढ़ी के लिए कोई चमत्कार से कम नहीं है। दादी के लिए टेलिविजन एक बक्से से अधिक कुछ नहीं है लेकिन जब उसमें यक्ष-किन्नर से लेकर गौरी-पार्वती आदि को देखकर दादी आश्चर्य-चकित हो जाती है। उनके लिए यह रिमोट अलादीन के चिराग से कम नहीं था। लेकिन इस सबका असर दादी पर अधिक समय तक नहीं रहता। दादी इसमें -- 'खेत—खलिहान, गड़ही-पोखर ढूँढतीं तो उधर बड़े-बड़े रंगीन फूलों वाली आदमकद फुलवारियाँ दीखतीं। गाँव-सिवान तलाशतीं तो घुटनों तक घाघरी चढ़ाए, सीना उघारे, होस से बेहोस, फूहड़पने पर उतरी छोकरियाँ।...बाकी पूरे समय, धाँय-धाँय छूटते गोले-बारूद, ताड़-ताड़ दगती बंदूके....कहीं उघड़ी खाल, कहीं लिथड़ते शरीर...।' (दादी का रिमोट, पृष्ठ-42) पहली बार यह सब देख दादी बेहोश हो जाती है। होश आने पर वह सफाई देते हुए कहती है—'गोली-बारूद वाली बटन निकाल दो जान थोड़ेई देनी है। मैंने तो राधे-श्याम के लिए बटन दबाई थी।...भगवान लोग अब क्यों नहीं आते।' (दादी का रिमोट, पृष्ठ-42) आज टेलिविजन पर लगातार अश्लील व वीभत्स दृश्य दिखाकर संवेदनशील व अबोध जनता का मानसिक शोषण किया जा रहा है। इसीलिए दादी रोते हुए कहती है 'राच्छसों ने खड़े-खड़े गोली दाग दी रे दैया...बेचारे निहत्ये बेकसूर पे...मैंने खुद अपनी आँखों से देखा.....अरे राम-रहीम का पहरा उठ गया क्या रे दुनिया से.. कहीं आग में जिंदा झोंक रहे हैं, कहीं पानी में घोट-घोट के.... कहीं बिजली का करेंट लगा के.....।' (दादी का रिमोट, पृष्ठ -44) इस प्रकार टेलिविजन पर इस तरह के दृश्यों को देख-देखकर दादी की संवेदनाएँ मरती चली जाती है। अब वह वास्तविक जीवन में इस तरह की घटनाओं के

घटने पर भी दुखी नहीं होती हैं। एक बार इतवार की दोपहर में इनकी कालोनी में अट्टारह साल के लड़के को गोलियों से छलनी कर दिया गया। इस घटना की सूचना जब दादी को मिलती है तो वह दुःखी न होकर कह उठती है “कल ‘पेटी’ पे भी एकदम येई दिखाया था ‘रात-दिन येई चल रहा है। आठों प्रहर।’ (दादी का रिमोट, पृष्ठ-48) यह कहानी इस बात पर विचार करने के लिए विवश करती है कि यथार्थ के नाम पर टेलिविजन पर जो भी घटनाएँ या दुर्घटनाएँ परोसी जा रही हैं। ये किस हद तक उचित हैं।

‘फरिश्ता’ दलित वर्ग को केंद्र में रखकर लिखी गई कहानी है। इस कहानी का प्रमुख पात्र मटरू है। यह बच्चा दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। समाज के संभ्रांत परिवार द्वारा मटरू के परिवार का शोषण होता है किंतु मटरू का परिवार इस संभ्रांत परिवार से अलग होकर अपने अस्तित्व को स्थापित करने में असमर्थ है। अतः ना चाहते हुए भी वे इस परिवार से जुड़े रहते हैं। मटरू यहाँ सिर्फ एक खिलौना बन कर रह जाता है। वह इस परिवार के बेटे ‘कुन्नू बाबू’ के हाथों की कठपुतली बना रहता है। प्रारंभ में वह अबोधता के चलते खेल के दौरान बेईमानी करने पर ‘कुन्नू बाबू’ का विरोध करता है; लेकिन स्थितियों की नजाकत को देखते ही माँ उसे समझाती है कि ‘कुन्नू बाबू’ के साथ खेलते हुए हमेशा हार ही को स्वीकार करना है- “कुन्नू बाबू को कभी कबड्डी में पकड़कर चोर मत कहना कुन्नू बाबू से कंचे मत जीतना..... कुन्नू बाबू से लूडो इस तरह खेला कर कि उसकी गोटी सीढ़ी चढ़ती ही चली जाए ऊपर तक--- और तेरी गोटी को साँप निगलता ही चला जाये.....सो मैं खूब चालाकी और समझदारी से खेलता हूँ-- लूडो में अगर दो खानों के बाद साँप का मुँह पड़ता है और मेरा चार का नंबर आ जाता है तो मैं जल्दी से डाइस का नंबर दो कर देता हूँ..... बस, मेरी गोटी को साँप खा जाता है.....”(फरिश्ते, पेज 26) इस तरह लेखिका कहती है कि आज गरीबों के बच्चे अमीरों के बच्चों के लिए खिलौना मात्र बन कर रह गए। यहाँ ‘कुन्नू बाबू’ की माँ अपनी नौकरानी मटरूआ की माँ से कहती है। मटरूआ को आप अपने साथ काम के समय यहाँ ले आया कीजिए। हम उसके खाने-पीने का खर्च उठाएंगे। यहाँ तक कि उसके पढ़ाई में भी जो खर्च आएँ लगाएंगे। इस मेहरबानी का एकमात्र उद्देश्य मटरूआ को पढ़ाना नहीं बल्कि अपने बेटे के जिद को पूरा करने के लिए घर में ही एक गुलाम को तैयार रखना है। असहाय मटरूआ की माँ यह सुन बड़ी प्रसन्न होती है और भगवान से ‘कुन्नू बाबू’, साहब, बीबी जी और कोठी की सलामती की दुआ माँगने लगती है। माँ अपने बेटे को कोठी के बारे में विस्तार से बताते हुए कहती हैं -‘सुरंग है सुरंग, कोठे-पर-कोठे-गच्चे-पर-गच्चे ---- जाने कितनी छतें, दुखतियाँ-ठंडी गरम मशीनें.....अभी ही बीबी जी के बहन-बहनोई और कई मेहमान लोग आयेंगे। उन्हीं कमरों में ठहरेंगे। तमाम ताम-झाम, बरफ-लस्सी, मिठाई, फलों की टोकरियाँ। (फरिश्ते, पेज 26)। संभ्रांत वर्ग अपने मनोरंजन हेतु निम्नवर्ग के लोगों को साधन के रूप में प्रयोग करता आया है। सूर्यबाला की कहानी

में भी समृद्ध वर्ग अपने अतिथियों के बीच छत पर बैठकर कहकहे लगा रहा है। इसी वक्त मटरुवा वहाँ पहुँच जाता है और बाबू साहब उससे बिरहा या कजरी सुनाने को कहते हैं। मटरुवा संकोच करता है तभी बाबू साहब गरज उठते हैं -- ‘अबे चल सुअर --- एतना मनौना काहे को करा रहा है — दूँगा एक हाथ खींचकर तो घिघ्मी बध जायेगी अहमक कहीं का.....।’ (फरिश्ते, पेज 27)। इतना ही नहीं अमीर वर्ग की गलतियों का खामियाजा हमेशा से ही गरीब वर्ग को भुगतना पड़ता है। इस कहनी में कुन्नु बाबू उस डाली को हिला देते हैं; जिस पर मटरुआ उनके लिए जामुन तोड़ने चढ़ गया था। जैसे ही मटरुआ पेड़ की सबसे ऊँची डाली पर जामुन तोड़ने पहुँचता है; तभी कुन्नु बाबू पेड़ को हिलाकर मटरुआ को गिरा देता है। तब कुन्नु बाबा के परिवार वाले कुन्नु को दोष ना देकर मटरुआ को ही समझाने लगते हैं कि तूने टहनी से हाथ नहीं छोड़ना चाहिए था। इस दुर्घटना में मटरुआ की एक आँख फूट जाती है और पांव की हड्डी टूट जाती है। तब मटरुआ अपनी चिंतित माँ को समझाते हुए कहता है कि — ‘एक से भी उतना ही देख सकते हैं जितना दूसरी से -- और पैर के लिए तो डॉक्टर लोगों ने यही कहा है कि हड्डी जुड़ जाएगी और मैं एक पैर से मचक -- मचककर आराम से जिंदगी बसर कर सकता हूँ। लेकिन माँ को जैसे ये सब बातें समझ में नहीं आतीं। इस दुर्घटना का उच्च वर्ग अर्थात् कुन्नु बाबू के परिवार पर किसी तरह का प्रभाव नहीं दिखाई देता। उलटे वे मटरुआ को लंगड़दीन के नाम से संबोधित करने लगते हैं; ये स्थितियाँ संवेदनाओं के समाप्ति की ओर संकेत करती दिखाई देती हैं। इतना ही नहीं वे मटरुआ के लंगड़ेपन को भुनाने में भी कोई कोर कसर नहीं करते और कहते हैं --- ‘भगवान जो करता है अच्छा ही करता है -- अब यह देखो, अपंग वर्ष है न सो हमें घर बैठे ही अपंग सेवा का संयोग बिठा दिया -- इस जमूड़े की टांग तोड़कर.....’ (फरिश्ते, पेज -29)। इस प्रकार लेखिका ने समाज से संवेदनाओं के दिन-प्रतिदिन कम होते जाने की बात की है। जो चिंता का विषय है।

शहर की भागदौड़ युक्त जिन्दगी में, वहाँ फलते-फूलते आइस्क्रीम-पार्लरों तथा फास्टफूड सेंट्रों के आस-पास मँडराती गलत हिन्दी व सही अंग्रेजी की मिलीजुली रिडल्स, आटे, दाल, मसालों से लेकर पिज्जा, बर्गर, केक, चॉकलेट आदि सभी कुछ उपलब्ध हो जाता है; भले ही फिर उनकी कीमत तीस-चालीस रुपया अधिक ही क्यों न हो। इसी प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों से जुड़े कार्य के लिए भी वह स्वयं न जाकर पैसे के बल पर, घर बैठे-बैठे ही उन्हें पूरा करवा लेता है। लेखिका ने ‘शहर की सबसे दर्दनाक खबर’ के माध्यम से शहरी जीवन के यथार्थ स्थितियों की पोल खोलकर रख दी है। इसीलिए लेखिका कहती है ‘इन लोगों के पास कोई समस्या फटकती ही नहीं। फटकती भी तो पैसों से सलटा ली जाती। इनके पास ज्यादा इंतजार का समय और सब्र नहीं होता। यूँ ही बड़ी-बड़ी पार्टियों, कॉकटेलों, कमेटियों के मुद्दे सलटाने की कुछ कम अफरा-तफरी नहीं होती। फिर दंगे

जैसे जाहिलाना हरकत और मुद्दे पर सिर खपाने की किसको फुर्सत?' (शहर की सबसे दर्दनाक खबर, पृष्ठ-122) जहाँ भी बड़े शहरों का निर्माण होता है वहाँ दंगे फँसादों की संभावना कम व भाइचारे की प्रवृत्ति अधिक विकसित होती है। शहर समाज के सभी वर्ग को आसरा देता है। इस सब के बावजूद वहाँ शांतिपूर्ण वतावरण बना रहता है। लेकिन जब कभी असामाजिक तत्त्व अपने स्वार्थों के लिए शहरों में साम्प्रदायिक दंगे करवाते हैं तो भी शहरी व्यक्ति असामाजिक तत्त्वों का साथ न देकर; अपने आस-पड़ोस की सुरक्षा को लेकर अधिक चिंतित दिखाई देता है। इसी के चलते कमाल साहब को अपने बच्चों के नाम भी बदलने पड़ते हैं और कमाल साहब के कौ. सोसायटी के लोग कमाल साहब को भी सलाह देते हैं कि 'अपने नौकर को भी हिदायत दे दें कि वह बाहर उनकी जाति-धर्म का ब्यौरा हरगिज बयान न करें और जब नौकर न हो, तब भी वे खुद कोई सामान इत्यादि लाने के लिए बाहर हरगिज न निकलें। बल्कि हम लोगों में से कभी किसी को रिक्वेस्ट कर सकते हैं। हम लोग मँगवा देंगे।' (शहर की सबसे दर्दनाक खबर, पृष्ठ-126) लेकिन इन सबका अगाध प्यार पाने के बावजूद दंगों की बू से कमाल साहब इतने दुखी हो जाते हैं कि किसी को बताए बिना ही सपरिवार रातों-रात शहर छोड़कर चले जाते हैं। इस प्रकार लेखिका ने आम आदमी की मानसिकता को अभिव्यक्ति दी है।

इस प्रकार सूर्यबाला की कहानियाँ समसामयिक स्थितियों से समाज को रूबरू कराने में सक्षम है। इस संग्रह में लेखिका ने जीवन के ऐसे पक्षों को उपस्थित किया है; जिनसे समाज का हर व्यक्ति आए दिन टकराता रहता है। इन कहानियों की भाषा सहज और प्रवाह लिए हुए हैं। अंग्रेजी शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है किंतु ये शब्द भाषा के प्रवाह में किसी तरह की बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि लेखिका के शब्दों का चुनाव सराहनीय है। अस्तु!

विभागाध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
रामनारायण रुइया स्वयत्त महाविद्यालय
मट्टंगा, मुम्बई -400019.

□ □

परिस्थितियों पर विजय का जीवंत दस्तावेज : 'थाली भर चाँद'

डॉ. अजीत कुमार राय

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में डॉ. सूर्यबाला का रचना संसार विशिष्ट महत्व रखता है। कहानीकार, उपन्यासकार, व्यंग्यकार के रूप में सूर्यबाला विशिष्ट और अलग अंदाज के साथ उपस्थित हैं। वे जीवन, समाज, परंपरा एवं उनसे जुड़ी समस्याओं को अपनी मुक्त दृष्टि से देखने का प्रयास करती हैं। उनकी कहानियाँ कल्पना के धरातल पर नहीं वरन् अनुभव के ठोस धरातल पर खड़ी हैं, जहाँ जीवन के प्रत्येक स्पंदन को महसूस किया जा सकता है। उनकी अधिकतर रचनाएँ मानवीय अनुभूतियों को निगल रहे बाजारवाद पर चिंता व्यक्त करती हैं। सकारात्मक बदलाव और मूल्यों में बेहतरी के लिए वे हमेशा प्रयासरत रहती हैं और इसके लिए वे विरोध और विद्रोह के स्थान पर विवेक को तरजीह देती हैं। मध्यमवर्गीय परिवेश से सम्बद्ध होने के नाते सूर्यबाला की कहानियाँ मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे निम्नवर्गीय पात्रों के साथ भी बौद्धिकता मात्र से नहीं बल्कि पूरी मार्मिकता के साथ जुड़ी हुई हैं। इसलिए इनके जीवन की यथार्थता को गहरी संवेदना के साथ अभिव्यक्त किया है। उनकी कहानियों के पात्रों में आत्मउत्कृष्टता की प्रवृत्ति व्यापकता के साथ देखने को मिलती हैं। वे बेहतर मनुष्य बनने के लिए सदैव प्रयासरत रहते हैं। वे पात्र अमीर हों या गरीब परन्तु चारित्रिक रूप से मजबूत, वैचारिक रूप से आदर्शवादी तथा व्यावहारिक रूप से संवेदनशील होते हैं। परिस्थितियों से लड़ते-जूझते जीवन संघर्षों के बावजूद उनकी जिजीविषा और जीवन के प्रति सकारात्मकता का भाव कायम रहता है।

'थाली भर चाँद' में संकलित कहानियों में भी इन्हीं गुणों से सम्पन्न पात्रों को लेखिका ने बड़ी ही संजीदगी के साथ प्रस्तुत किया है। संकलन की पहली कहानी 'न किन्नी, न' एक नवयौवना द्वारा मानसिक धरातल पर एकाकी रूप से स्वयं की स्वयं से लड़ी जाने वाली लड़ाई की गाथा है। कहानी की मुख्य पात्र किरन एक निम्न मध्यम वर्गीय परिवार से ताल्लुक रखती है, जिसकी मौसी उच्च वर्ग से है। इन्हीं दो परिवारों के सम्बन्धों एवं व्यवहार का सहारा लेकर कहानी आगे बढ़ती है। किरन के पिताजी अब इस दुनिया में

नहीं है, जबकि उसके मौसाजी शक्कर मिल में मैनेजर हैं। उनके पास जीप एवं नौकरों की एक फौज है। दूसरे शब्दों में कहें तो किरन के मौसाजी के पास वो सारे संसाधन एवं सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जिनकी कल्पना हम एक उच्च वर्गीय परिवार से कर सकते हैं। मौसी जब मिलने के लिए अपनी बहन के घर आती हैं तो वह अपनी क्षमतानुसार किरन के परिवार के सभी सदस्यों के लिए कुछ न कुछ लेकर आती हैं। शायद यही कारण है कि उनके आने की सूचना परिवार के सदस्यों के लिए बेहद सुखदायी होती है। हर बार की तरह इस बार भी आते ही अपना सूटकेस खोलकर बैठ जाती हैं और कहती हैं- “किन्नी, इधर आ, ये देख, ये रोजी ने तेरे लिए टॉप्स और मैचिंग लॉकेट भेजे हैं और ये चार रूमालें। बहू, तुम्हारे लिए पर्स है और मिंटू-चिंटू के लिए हेयर बैंड और क्लीपें... गुड्डू के लिए ये रंगीन पेंसिलों का सेट गगन ने भेजा है।” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-09) ये सारे तोहफे पाकर सबको खुशी होती है परन्तु उतनी नहीं जितनी होनी चाहिए। शायद इसलिए कि उन्हें कुछ और की अपेक्षा है, जो इन तोहफों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है। इन औपचारिक तोहफों के बाद मौसी अपने होल्डाल से उन चीजों को निकालती हैं, जिसका सभी को इंतजार रहता है, “तीन-तीन, चार-चार जोड़ी पुरानी चप्पलें-सैंडिलें... खरोंच लगी नई-सी साड़ी...हैंडल निकला बैग... गंदे तेल का छीटा पड़ा शर्ट, रोजी की नाइटी, बचे हुए ऊन, प्लेट, कटोरियाँ आदि।” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-09-10)

मौसी को किरन की पसंद पर बहुत भरोसा है। यही कारण है कि वह जब आती हैं, तो बाजार जाते समय किरन को अपने साथ जरूर ले जाती हैं और किरन के पसंदानुसार अपनी बेटी रोजी के लिए खरीददारी करती हैं। इधर पढ़ाई कर रही किरन के लिए घर पर बैठक जमाने चले आने वाले उसके भाई के दोस्त एक बड़ी समस्या हैं। वे जब भी आते हैं, किरन पढ़ाई करने के लिए कटरे वाली चाची के पास चली जाती है। एक दिन जब वहाँ वो जाती हैं, तो उसकी मुलाकात चाची के भतीजे आकाश से होती है। दोनों में औपचारिक बातें होती हैं और पढ़ाई के चलते बीच-बीच में दोनों की मुलाकात होती रहती है। दोनों को एक दूसरे का साथ अच्छा लगता है। उन दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति कोमल भावनाएँ पलने लगती हैं। आकाश की बात का असर किरन पर कुछ इस प्रकार होता है- ‘बस, जैसे एक रेशमी पारदर्शी दुपट्टा-सा मेरे माथे, कंधों पर आ गिरा हो और इस आवरण में लिपटी मेरे लिए सब कुछ सुंदर था, सब कुछ शुभ, संकल्पमय और मोहक!’ (थाली भर चाँद, पृष्ठ-16)

किरन के अंतर्मन में आकाश के प्रति पनपते प्रेमांकुर का प्रभाव उसके व्यवहार में दिखने लगता है। किरन के व्यवहार में हुए इस परिवर्तन को उसकी माँ भी भाँप जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप वह भी इस इन्द्रजाल में फँस जाती है और बेटी के लिए सपने देखने लगती है। एक-दूसरे के मन में अंकुरित इन भावों को दोनों समझ रही होती है, परन्तु कहती कुछ नहीं। किरन के शब्दों में ‘मेरे और माँ के बीच जैसे कोई अलिखित

समझौता-सा था। मैं अपने में संकुचित, वे अपने में कि पहले इस सपने का कोई स्पष्ट आकार तो बन ले, लेकिन अच्छा मुझे यह लगता कि अब माँ पहले से ज्यादा मुसकरा पातीं।' (थाली भर चाँद, पृष्ठ-16-17) एक दिन अचानक मौसी का आगमन होता है। बातचीत में पता चलता है कि वे रोजी (अपनी बेटी) के लिए लड़का देखने आई हैं, लेकिन वहाँ बात नहीं बनती। इसी दौरान उनकी नजर में आकाश आता है और किरन की इस पसंद को भी वह रोजी के लिए लेकर चली जाती है। किरन के शब्दों में, ' मेरे और माँ के चेहरे पर लिखे अक्षर क्या इतने अस्पष्ट थे उनके लिए? न, मौसी कितनी तो समझदार, जानने-समझने वाली हैं, और फिर मुझे तो इतना प्यार करती हैं, मेरी पसंद को सराहती हैं-मेरी पसंद...आह!' (थाली भर चाँद, पृष्ठ-19) परिस्थितियों से हारी किरन एक बार पुनः खड़ा होती है लेकिन 'टॉप' न कर पाने के कारण योग्य होने के बावजूद लेकर नहीं बन पाती और उसी कॉलेज में टीचर बन जाती है। किरन शादी नहीं करती है। इस बारे में वह कहती है, 'शादी मेरी नहीं हुई थी। इसे सुधारकर-'मैंने नहीं की थी।' कर लीजिएगा; क्योंकि अपने विवाह के लिए दहेज जुटा पाने की मेरी हैसियत नहीं थी, इसे सुधारकर 'दहेज जुटाने के पक्ष में मैं नहीं थीं कर लीजिएगा।' (थाली भर चाँद, पृष्ठ-21) इसी बीच किरन को पता चलता है कि तीसरे बच्चे के जन्म के समय हार्ट फेल होने से रोजी की मौत हो गई। मौसी के कहने पर माँ, किरन से रोजी के बच्चों को जिम्मेदारी उठाने को कहती है, जिस पर दोनों में हल्की सी बहस होती है-

“ओह! तो तुम्हारा मतलब है, मैं इस नरक की टीचरी छोड़कर स्वर्ग में आयागिरी करने जाऊँ? नहीं बेटी, नहीं। आयागिरी करने नहीं सच को संभालने।” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-22) लेकिन सोते समय वह भाई के नक्कारेपन, अपनी वर्तमान स्थिति, भविष्य एवं आकाश के प्रति निष्काम प्रेम एवं रोजी के बच्चों की परवरिश के बारे में विचार कर अपनी माँ से मौसी को हाँ बोलने के लिए कह देती हैं। इस समय उसके मन-मस्तिष्क में बस मौसी की अनकही बात घूम रही है, 'यह लो किन्नी! धूसर आसमान का यह टुकड़ा! जरा इसे धो-पोंछ देगी न तो सुधर-सँवर जाएगा। रोजी ने इसे सिर्फ दस साल ही तो इस्तेमाल किया होगा। मैंने सोचा, इसे तेरे लिए लेती चलूँ, तुम पर खूब फबेगा!' (थाली भर चाँद, पृष्ठ-25)

संग्रह की दूसरी कहानी 'रहमदिल' समाज में गहरे तक पैठ जमा चुके भ्रष्टाचार का जीवंत उदाहरण है। इस कहानी में लेखिका ने यात्रा के दौरान ट्रेन में टिकट बाबुओं द्वारा यात्रियों को परेशान करने, उनसे पैसे ऐंठने, गाली-गलौज करने एवं मारपीट करने की घटना को प्रस्तुत किया है। 'रहमदिल' कहानी का मुख्य पात्र रहमत अली एक निम्नवर्गीय परिवार से है, जो बेकरी में काम करता है और ईद पर सपरिवार अपने गाँव जा रहा है। यात्रा के दौरान टी.टी. उसके टिकट पर गलत नाम लिखे होने का हवाला देकर पैसे ऐंठने की कोशिश करता है, जबकि टिकट पर रहमत अली की जगह पर उसका नाम संक्षेप में

आर. अली लिखा होता है। इसी बात पर दोनों में बहस हो जाती है नाम सही है या गलत। टी. सी. उसे चोट पहुँचाता है और ट्रेन से उतारकर ले जाने लगता है। इसी दौरान एक पुलिस वाला कानूनी दौंचाई का हवाला देकर रहमत को डरा कर बचाने की एवज में पैसा माँगता है। परेशान रहमत अपनी जेब की सारी नोट निकालकर उस पुलिस वाले के हवाले कर अपनी जान बचाता है। जबकि सच तो यह है कि टी. सी. और पुलिस वाले दोनों मिले रहते हैं। रहमत अली टी.सी. और पुलिस वालों के शोषण का शिकार होकर भी इस बात से अनजान है और स्वयं निर्दोष होते हुए भी भ्रष्ट पुलिस वाले के उपकार तले दबा होकर सुकून की साँस लेता है- “अल्लाताला की बड़ी मेहरबानी..... कि बेदाग बच आया, नहीं तो फँसा बड़ी बुरी तरह था कानून के शिकंजे में.... वो तो पुलिसवाला रहमदिल निकला, जो छुड़वा दिया बेचारे ने, अल्ला भला करे उसका....।” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-35)

‘तोहफा’ एक सीधी-सपाट रेखा में चलने वाली साधारण प्रतीत होने वाली परन्तु बड़ी ही मार्मिक एवं विचारणीय कहानी है। बाल जीवन तथा कार्यालयीन महत्त्वकांक्षा एवं चाटुकारिता की प्रवृत्ति को केन्द्र में रखकर लिखी गई कहानी ‘तोहफा’ एक करारा कटाक्ष है। बबलू के जन्मदिन पर उसके पिता ने बहुत सारी तैयारी की है। बबलू के दोस्तों, अपने रिश्तेदारों एवं मित्रों को आमंत्रित किया है। इतना ही नहीं अपनी फैक्टरी के मालिक मिस्टर चड्ढा को विशेष रूप से आमंत्रित किया है। सारी तैयारी हो गई है, बबलू केक काटने के लिए तैयार है। परन्तु मिस्टर चड्ढा अभी तक नहीं आए हैं, जिसके कारण केक नहीं काटा जा रहा है। काफी देर होने के कारण बबलू के सारे दोस्त तथा कुछ मेहमान चले जाते हैं। यहाँ तक कि बबलू भी जाकर सो जाता है। मिस्टर चड्ढा के आने पर उसकी माँ जब उसे बुलाने जाती है, तो दोस्तों के चले जाने से नाराज बबलू आने को तैयार नहीं होता। तब उसकी माँ कहती है- “मान जा बेटे! सब लोग क्या सोचेंगे? देख, तू नहीं काटेगा तो पापा की कितनी इनसल्ट होगी। कितना दौड़े हैं पापा तेरे बर्थ डे के लिए!” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-42) पापा की दिनभर की मेहनत को याद कर बबलू केक काटने के लिए राजी हो जाता है। केक काटने के बाद मिस्टर चड्ढा बबलू से हाथ मिलाने को कहते हैं परन्तु उनके अपने दोस्तों के चले जाने से नाराज बबलू शराब पिए मिस्टर चड्ढा से हाथ नहीं मिलाता है। जिससे गुस्सा होकर उसके पापा उसे एक जोरदार थप्पड़ लगा देते हैं। लेखिका के शब्दों में बबलू के लिए उसके गाल पर पड़ा पापा का थप्पड़ ही जन्मदिन का तोहफा होता है। थप्पड़ के कारण उसका गाल सूज जाता है। शोभा उसके गाल को भीगे कपड़े से धो रही होती है, माँ की गोदी में लेटा हुआ बबलू हिचकियाँ थमने के बाद अपने गाल को छूता हुआ, कहता है- “मम्मी कल मुझे स्कूल मत भेजना।” (तोहफा - थाली भर चाँद, पृष्ठ-43)

संकलन की शीर्षक कहानी ‘थाली भर चाँद’ आराम तलब हो चुके समाज को

आईना दिखाती एक सशक्त रचना है। यह कहानी उन लोगों की मानसिकता को धरातल पर लाकर खड़ी कर देती है, जो दूसरों की खुशियाँ देखकर दुःखी होते हैं और उन्हें तकलीफ में देखने की इच्छा रखते हैं। आधुनिक परिदृश्य में सुविधाभोगी समाज के प्रतिनिधि के रूप में माँ के चरित्र को परिभाषित करता एक वार्तालाप द्रष्टव्य है- “बेटे! तेरी मम्मी सिर्फ एक चूल्हे-चौकेवाली औरत तो है नहीं न; उसे कितनी गोष्ठियों, सेमिनारों, संस्थाओं की धुरी संभालनी पड़ती है। वह सिर्फ तेरी चोटियाँ गूँथते तो जिदगी नहीं बिता सकती न!” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-154) वहीं जब अपने पड़ोसी के घर में नौकरानी को काम करते देखती है, तो उसे ईर्ष्या एवं कुढ़न महसूस होती है। एक दिन उसे जब दिखाता है कि किन्हीं कारणों से उनकी नौकरानी नहीं आई है, तो उसे उत्सुकता मिश्रित खुशी होती है कि आज देखती हूँ कि पड़ोसी एवं उसकी बिटियाँ कितना परेशान होती हैं। लेकिन उन सबको खुशी-खुशी सारा काम करते देखती है, तो वह अपनी वैचारिक हार स्वीकार करती है। लड़कियों द्वारा ले जा रहे बर्तनों में उसे चाँद दिखाई देता है। यथा- “तीनों ने एक-एक टोकरी सँभाल ली। बरतनों पे तेज धूप झिलमिला रही थी और वे तीनों इस तरह उल्लसित, हँसती चली जा रही थीं जैसे अपनी-अपनी छोटी-बड़ी थालियों में ढेर-के-ढेर चमचमाते चाँद लिए जा रही हों।” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-159)

इस संग्रह में संकलित कहानी ‘योद्धा’ परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप उपजी एक युवा की मानसिक यंत्रणा की कहानी है। दंगे के दौरान एक बच्चे को दंगाइयों से बचाने का प्रयास कर रहे युवा का भाई हादसा वश दंगाइयों के हमले में मारा जाता है। लोग उसे शहीद का दर्जा दे देते हैं। दंगाइयों के खिलाफ खड़े होने व बच्चे को बचाने पर उसकी तारीफ करते हैं। वहीं जिस युवक ने यह सब कुछ किया होता है, जो प्रशंसा का वास्तविक हकदार है, वह हाशिए पर चला जाता है। वह इन परिस्थितियों में यंत्रणा के दोहरे-तिहरे प्रहारों को झेलता हुआ इन त्रासद परिस्थितियों में अपने आप को शांत बनाए रखता है, क्योंकि वह लोगों के समक्ष इस सच को उजागर भी नहीं कर सकता है। वह कैसे कह सकता है कि जो सम्मान भैया को दिया जा रहा है, उसका वास्तविक हकदार वह है। इस कहानी का मुख्य पात्र एवं असली योद्धा देवेन्द्र को जानने – समझने वाला कोई नहीं है। ऐसे में उसके लिए कोई सात्वना की बात है, तो वह है घटना के तुरंत बाद पुलिस इंस्पेक्टर द्वारा मिली शाबाशी “हाँ, इंस्पेक्टर ने उसकी पीठ ठोंकी थी, उसे याद है, कैसे भूल सकता है वह अपने शौर्य को मिली उस पहली और अंतिम स्वीकृति को।” (थाली भर चाँद, पृष्ठ-165) वह सोचता है – “.... कि काश! भाई जिंदा होते तो इतने-इतने उतावले लोगों की जिज्ञासा उसकी बहादुरी की बखान से शांत करते, बताते कि अरे नहीं, इतनी बर्बर भीड़ के सामने पहले कूदा तो यह, जूझा तो यह... डटा रहा तो यह, मैं तो मैं तो सिर्फ....” (योद्धा – थाली भर चाँद, पृष्ठ-166)

डॉ. सूर्यबाला की इन कहानियों के विश्लेषण से निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि

उनकी कहानियों के पात्र सर्वगुण सम्पन्न, चमत्कारी व्यक्तित्व के धनी कोई महानायक नहीं होते हैं। या यूँ कहें कि सूर्यबाला अपनी कहानियों में पात्रों को कभी भी महानायक या नायिका के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास ही नहीं करती है। उनके पात्र बड़े ही सामान्य तथा मध्यम, निम्न मध्यम या समाज के निम्न वर्ग के सदस्य होते हैं। वे परिस्थितियों से लड़ते नहीं, विरोध का परचम फहराने का प्रयास नहीं करते अपितु सामान्य रूप से जीवन जीते हुए जीवन संघर्षों को आत्मसात करते हुए जीवन पथ पर अग्रसर रह कर एक आदर्श स्थापित करते हैं। यदि हम उनकी कहानियों को लैंगिक आधार पर देखें तो उनकी कहानियों में पुरुष पात्रों की तुलना में स्त्री पात्र कहीं ज्यादा प्रभावशाली हैं लेकिन ऐसा कतई नहीं है कि लेखिका उनके चरित्र एवं व्यक्तित्व में विशेष चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई विशेष या अतिरिक्त प्रयास करती हैं। अपितु वे तो उन्हें सामान्य बनाकर प्रस्तुत करती हैं और उनके सादगी पूर्ण जीवन में ही एक आदर्श की स्थापना करते हुए पाठक को सम्मोहित कर देती हैं। उनकी कहानियों के स्त्री-पात्र, बहुत ज्यादा बोलने और सब कुछ कह देने में ज्यादा विश्वास नहीं करते। उनमें आत्मसम्मान की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। वे अपने आपको शोषित या सताये हुए मानने को कभी तैयार नहीं होते हैं। वे तो बड़े ही शान्त भाव से परिस्थितियों से जूझते एवं उनसे सामंजस्य बनाते हुए अपनी जीवन यात्रा को सतत रूप से जारी रखते हुए अकल्पित लक्ष्य की ओर शांत रूप से अग्रसर रहते हैं। दुख, संत्रास एवं निराशा के जिस रूप को हम जानते हैं डॉ. सूर्यबाला ने अपनी कहानियों में उस रूप को अपने नजरिए से परिभाषित करते हुए बिल्कुल नए ढंग से उद्घाटित एवं प्रस्तुत किया है। हम देखते हैं कि वे अपनी गहन अंतर्दृष्टि से कहानियों में निम्नवर्गीय पात्रों की यथार्थ स्थिति को बड़े ही मार्मिकता एवं जीवंतता के साथ बड़ी ही सादगी से प्रस्तुत करती हैं। उनकी रचनाओं में कभी भी वर्ग भेद, वर्ग विरोध की भावना या वर्ग संघर्ष देखने को नहीं मिलता। वे अपनी रचनाओं में उच्चवर्ग के सामने निम्नवर्गीय पात्रों को लाकर उनके संतोषप्रद जीवन का चित्रण करते हुए एक आदर्श प्रस्तुत करती हैं। उनके निम्नवर्गीय पात्र ऐसे होते हैं, जो गरीबी और विवशता का साहस के साथ सामना करते हुए जीवन-यापन करते हैं। वे स्वयं जीवन-मूल्यों को विशेष महत्व देती हैं। शायद यही कारण है कि उनकी कहानियों के पात्र दुःख, अभाव, भय के बीच जीते हुए भी साहस के साथ उनका सामना करते हुए जीवन में सुकून तलाश ही लेते हैं। उनकी कहानियों के पात्रों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे किसी भी परिस्थिति में प्रबल विद्रोह की भावना के प्रभाव में नहीं आते।

सहायक प्राध्यापक
के. सी. महाविद्यालय
चर्चगेट, मुंबई.
□ □

बिखरते हुए मूल्यों को उकेरती कहानियाँ

डॉ. उषा दुबे

हिन्दी कहानी अपने आरंभिक चरण से ही मानव समाज के यथार्थ को रेखांकित करते हुए उसके आंतरिक तत्वों को समझने-परखने का कार्य करती रही है। समय के परिवर्तन के साथ तमाम आंदोलनों से गुजरती हुई हिन्दी कहानी ने एक ओर जहाँ संस्कृतिधर्मिता और पारंपरिकता को महत्व दिया, वहीं वैचारिक परिवर्तनों को भी आत्मसात करने में कोई कोताही नहीं बरती।

महिला कथाकारों के सक्रिय होने से हिन्दी कहानी में एक नए दौर का सूत्रपात हुआ। मानव जीवन के केंद्र में रहने वाली नारी हिन्दी कहानी के केंद्र में उतर आयी। हाँ, मैं स्त्री विमर्श से जुड़ी कहानियों के संदर्भ में बात कर रही हूँ। स्त्री विमर्श से जुड़ी महिला कथाकारों ने नारी के जीवन को उसके शरीर के इर्द-गिर्द स्थापित करने का कार्य किया। उपेक्षिता को महत्व मिलना शुरू हुआ, तो उसने स्वच्छन्दता की सारी हदें पार कर दीं। यही नहीं तमाम स्वनाम धन्य महिला कथाकारों ने अपने शरीर का ढोल पीटकर जीवन को अलग कोण से पेश करने का कार्य किया। ऐसे में सूर्यबाला जी हिन्दी कहानी में एक सुखद आश्चर्य के साथ अवतरित हुईं, इन्होंने नारी-विमर्श के चौखटे से बाहर निकलकर बदलते हुये समय में मानव जीवन की आहट सुनने का कार्य किया। इनकी कहानियों के केंद्र में भी नारियाँ हैं, लेकिन वे मानव जीवन और संस्कृति की हवा में साँसें लेती हुई प्रस्तुत हुई हैं। वे उनके लिए परिवर्तित समय में जीवन के बदलते मानदंड को रेखांकित करने का कार्य कर रही हैं।

सूर्यबाला जी की कहानियों में भारतीय जीवन का मुकम्मल दर्शन किया जा सकता है। यहाँ एकांगी चित्रण प्रायः नदारद है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यदि मानव जीवन की पड़ताल करें तो पता चलता है कि भौतिकता के आगे संवेदनाएँ महत्वहीन हो गयी हैं। पद प्रतिष्ठा और स्वार्थपरता का महत्व आज इतना अधिक बढ़ गया है कि सम्बन्धों का नाम लेना तक आउटडेटेड माना जाता है। आज के ग्लोबल समय में अपनी ही बनाई हुई परिधि के भीतर संवेदनहीन मनुष्य छटपटा रहा है। फिर भी उसे इसका आभास तक नहीं है। मैंने जिन कहानियों को इस लेख का आधार बनाया है उसमें लेखिका ने पद और प्रतिष्ठा के

सामने घुटने टेकते सम्बन्धों पर बड़ी तल्ख टिप्पणी की है। उनकी ये कहानियाँ आज के अंधेरे में रोशनी का संकेत लेकर प्रस्तुत हुई हैं। उनकी कहानियों में स्त्री विमर्श, स्त्री के अस्तित्व, उसकी पीड़ा को बड़े ही यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

सूर्यबाला की कहानी 'पड़ाव' बाजारवादी दृष्टिकोण को केंद्र में रखकर लिखी गयी है। कहानी में संयुक्त परिवार से छुटकारा पाने की लालसा एवं एकांगी जीवन जीने की चाह को व्यक्त किया गया है। कहानी के मुख्य पात्र शैलेन्द्र अपने परिवार के साथ कुछ दिनों के लिए सैर-सपाटे के लिए जाते हैं, निकलते समय उन्हें बड़ों का आदेश मिलता है कि वे अपने ताऊ से मिल लें। यह आदेश सुनते ही शैलेन्द्र और उसकी पत्नी का दिमाग खराब हो जाता है। वे कहते हैं "हम अंदर-अंदर कसमसा लिए उन लोगों यानी दूर के रिश्ते के उन बूढ़े-बूढ़ी के पास जाकर पूरा एक दिन गँवाना।" (थाली भर चाँद, पृ. ७४) शैलेन्द्र परिवार के कहने पर ताऊ के पास उनसे मिलने चला जाता है।

ताऊ और उनकी पत्नी दोनों ही एक दूसरे का सहारा हैं। ताई के घुटने में अक्सर दर्द रहता है। वे ठीक से चल नहीं पातीं, ताऊ भी अधिकतर बिस्तर पर ही अपना समय बिताते हैं। सालों गुजर जाते हैं, पर उनसे कोई मिलने तक नहीं आता है। आज कई वर्षों बाद उनके एक मंजिले मकान के सामने सामानों से लदा-फदा एक रिक्शा रुकता है। उन्हें ऐसा लगता है कि शायद कोई गलती से रुक गया होगा। लेकिन जब शैलेन्द्र आते ही ताऊ और ताई के पैर छूता है और अपना परिचय देता है तो ताऊ और ताई की खुशियों का ठिकाना नहीं रहता है। ताई की बूढ़ी आँखें शैलेन्द्र और उसके परिवार को देख कर चमक उठती हैं। वे जल्दी-जल्दी उन लोगों के लिए कचौरी और हलवा बनाती हैं। वे खुशी में अपने आप से बातें करती हैं कि क्या-क्या बनाकर शैलेन्द्र और उसकी पत्नी को खिलाएँ। शैलेन्द्र की बेटी भी है। उसे ताई अपने ही पास बिठाये रखती हैं। पास-पड़ोस के जब उनसे पूछते हैं, तो बड़े ही उत्साह से वे उनको बताती हैं कि "चचेरे भतीजे हैं, चचेरे भी तो अपने ही होते हैं।" (थाली भर चाँद, पृ. ७८) अपना पराया का भेद भुलाकर ताई जी-दिल से शैलेन्द्र और उसके परिवार की देख-रेख करती हैं। यहाँ तक कि ताई अपनी कमर और घुटनों का दर्द भूल जाती हैं। मुन्नी भी ज्यादा से ज्यादा समय ताई के पास ही रहती है।

शैलेन्द्र और उसकी पत्नी सरकारी काम के बहाने सुबह-सुबह ही निकल जाते और शाम को लौटते हैं। मुन्नी को भी ताई के पास ही अच्छा लगता है। ताऊ की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने पर भी ताऊ उसे दुकान पर ले जाते और बिस्कुट और लेमन चूस दिलाते हैं। लगभग इन दिनों में बनवारी का सत्तर रुपये का कर्ज ताऊ पर चढ़ जाता है। शैलेन्द्र वापसी के समय ताऊ और ताई के लिए 20 रुपए की शाल को 50 की बता कर उन्हें भेंट करता है। शैलेन्द्र अपनी पत्नी से ताऊ और ताई के निस्वार्थ प्रेम के बारे में बात

न कर छल कपट की बात करता है। वह कहता है कि “सरकारी काम का बहाना लगाकर तुम्हें इतना घुमाया-फिराया और ऊपर से इतना सस्ता, सुस्वाद भोजन और ठहरने का उत्तम नहीं तो ठीक ठाक प्रबंध क्या खराब रहा?” (थाली भर चाँद, पृ. ८२) कहानी में संवेदनहीनता को आज के मनुष्य का मुख्य व्यवहार बताया गया है।

लेखिका ने इस कहानी में उपेक्षित होते बुजुर्ग की दशा का भी चित्रण किया है। वर्तमान समय में खोती हुई मानवीयता व निस्वार्थ प्रेम दोनों का बखूबी चित्रण इस कहानी की विशेषता मानी जा सकती है। ‘संताप’ कहानी ऐसे परिवारों की कहानी है, जिसमें दो परिवार पिकनिक मनाने जाते हैं। जिसमें से एक परिवार की बेटी और पति तथा दूसरे परिवार के दो अबोध बच्चों की झरने में डूबने से मृत्यु हो जाती है। दोनों ही परिवारों की तकलीफ उतनी ही है किन्तु समाज के देखने का नजरिया अलग-अलग है। कहानी में साफ-साफ लिंगभेद और पुरुष सत्ता का प्रभाव दिखाया गया है और हमारा समाज किस प्रकार इससे प्रभावित है, इस ओर इशारा किया गया है। कहानी में लोगों की सांत्वना उस परिवार से ज्यादा है, जिसकी बेटी और पति की मृत्यु हुई है। दूसरे परिवार से कम क्योंकि दोनों बच्चों में से एक बच्ची अपाहिज है। परंतु माँ बनने के बाद औरत की जिंदगी उसके आस-पास ही रहती है। चाहे वह अपाहिज या सामान्य हो। लेखिका इसे इस प्रकार व्यक्त करती है-“मैं उस माँ को जानती हूँ उसने जीवन की समूची आस्था बच्चों के साथ ही जोड़ रखी थी। उसके बच्चे उसके जीवन की चरम उपलब्धि थे। अपनी सुध-बुध उसे कभी रही ही नहींउसने तो सारी महत्वाकांक्षा अपने बच्चों ही में रोप रखी।” (थाली भर चाँद, पृ. ८३)

आस-पड़ोस की औरतें उस घर में मातमपुर्सी के लिए जाती हैं जिस घर में दो अबोध बच्चों की मृत्यु हुई थी। लेकिन माँ पत्थर-सी बनी रही। न चीख न पुकार न चेहरे पर किसी आवेग के चिह्न ही। हर आने जाने वाले की आहट और मौजूदगी से पूरी अडोल, निस्पंद। उसकी हालत देख कर किसी की हिम्मत ही नहीं हुई उसे सांत्वना देने की। फिर भी एक-एक कर के उन्होंने उसे दिलासा देना शुरू किया। लेकिन उस दिलासा में माँ के मन की पीड़ा नहीं बल्कि उसकी अवहेलना दिख रही थी। उनके अनुसार पति ही सब कुछ हैं। वे कहती हैं कि... “अरे बिलकुल! बच्चों की तो खैर मौत आनी थी, आई और फिर कितना भी कहो बच्चे तो बच्चे ही हैं। लेकिन अपना मर्द पूरे हाथ-पाँव से सलामत खड़ा है तुम्हारे सामने, इसी का शुकरो करो।” (थाली भर चाँद, पृ. ८६) ऐसे समय में हेमंत अपनी पत्नी को संभालने की बजाय अपने बाँस की खानापूर्ति करता है। उसे भी ऐसा लगता है कि अपाहिज बच्चे के होने से अच्छा है कि वह नहीं रहे। सिर्फ समाज को दिखाने के लिए वह थोड़ा अफसोस जता देता है।

पत्नी जब यह सब देखती है तो वह सोचती है कि जिस प्रकार मेरी अपाहिज बच्ची

अपने छोटे भाई को बचाने के लिए पानी में कूद पड़ी। क्या ये अपने बच्चों को बचा नहीं सकते थे? समाज के सामने अपनी पत्नी का हवाला देते हैं कि मैं उनकी वजह से नहीं गया। बल्कि माँ के सिंदूर की आड़ में अपनी जान की कैफियत दे रहे हैं। कहानी में एक माँ का आक्रोश इस प्रकार व्यक्त होता है- “दुनिया के ज्यादातर लोग कायर होते हैं मेरी तरह। नहीं कूद सकते –सिर्फ बहुत थोड़े लोग ही कूद सकते हैं दूसरों की जान की खातिर उसकी बहादुर बेटी की तरह।” (थाली भर चाँद, पृ. ८९) कहानी में स्त्री अधिकार और उसकी स्वतन्त्रता को भी बताया गया है। अपने पति हेमंत की कायरता का वह किस्सा सबको बता देना चाहती है। जो उसकी बेटी को अपाहिज कहते हैं, लेकिन स्त्री होने के नाते नहीं बताती वह कहती है कि “अच्छा यह छूट आज तक दुनिया की किसी पत्नी को क्यों नहीं मिली कि वह पति की इस नामर्दगी को उजागर कर सके?” (थाली भर चाँद, पृ. ८९) कहानी में पद और पैसा पाने के लिए व्यक्ति अपने मासूम बच्चों की मौत और अपनी पत्नी के गम के बारे में न सोच वह अपनी तरक्की के बारे में सोचता है। इसी तरह ‘संताप’ कहानी में भी आज के मनुष्य की पद पाने की लालसा और चाटुकारिता तथा संवेदनहीनता को उद्घाटित किया गया है।

‘झील’ कहानी में लेखिका ने ऐसी समस्या का चित्रण किया है जो वर्तमान समय की सबसे गंभीर समस्या है। वर्तमान समय में लगभग अस्सी प्रतिशत से ज्यादा लोग इस समस्या से जूझ रहे हैं। समस्या है, जल्द से जल्द बड़ा आदमी बनने की, कम समय में तरक्की हासिल करने की। जिसकी कीमत उसके परिवार की खुशियाँ हैं, और वह समय जो एक बार चला गया तो फिर नहीं लौटता।

कहानी की मुख्य पात्र श्यामली चंचल, निश्चल और प्रेम से भरी है। उसका पति उससे विपरीत वह उतना ही महत्वाकांक्षी और भौतिकतावादी। उसके लिए पद और पैसा ही सब कुछ है। वह रिश्ते नाते सभी किनारे कर देता है। फास्ट प्रमोशन के लिए अपनी माँ और पिता की खुशियों पर ध्यान नहीं देता है। उसकी माँ चाहती है कि वह विवाह कर ले किन्तु वह सोचता है कि विवाह उसके प्रगति के मार्ग में बाधक होगा। वह कहता है कि “वे देख चुके थे कि प्रमोशन के लिए बैचलर की बात ही और होती है। दो सीढ़ियाँ उन्होंने पार कर ली थीं। दो तीन सालों में तीसरी और पार कर ले बैचलर रहते, फिर शादी होती रहेगी।” (थाली भर चाँद, पृ. ९४)

माँ के दबाव डालने पर वह विवाह कर लेता है, किन्तु अपनी मानसिकता के कारण वह वैवाहिक जीवन में भी संतुष्ट नहीं रहता है। वह अपनी पत्नी के खुशमिजाज तथा निश्चल स्वभाव को सहन नहीं कर पाता है। वह सोचता है कि यदि वह श्यामली के साथ उसी की तरह रहेगा तो उसका समय बर्बाद होगा और वह भी एक आम आदमी की श्रेणी में आ जाएगा। वह कहता है कि “मनोरंजन में समय गँवाते रहे तो उनमें और अनपढ़

औसत बुद्धिवाले ऐरो-गैरों में अंतर ही क्या रहा? उनकी विशिष्टता क्या रही? और यह सब भी छोड़ दे तो इस तरह समय नष्ट करने पर क्या वे जीवन में कुछ उपलब्ध कर पाएंगे? नहीं, उनके लक्ष्य बहुत ऊँचे हैं। उन्हें जीवन में बहुत-कुछ पाना है।” (थाली भर चाँद, पृ. ९८)

इसी संकुचित सोच के कारण वे श्यामली को अपना समय नहीं दे पाते हैं। यहाँ तक कि प्रमोशन के कारण वे अपने मित्र विश्वास से मित्रता तोड़ देते हैं क्योंकि विश्वास दफ्तर में सभी के साथ अच्छी तरह बात करता है, उनके साथ घुलमिल कर रहता है। उसके इसी व्यवहार के कारण लोग कहने लगते हैं कि “विश्वास मजदूरों के प्रति ज्यादा ही उदार रुख अपनाता है। उसका एडमिनिस्ट्रेशन उतना सख्त नहीं। वह ‘स्किल्ड’ के साथ खड़े होकर चाय भी पी लेता है और यह सब कुछ मिलाकर सिद्ध करता है कि उसका सम्बन्ध राजनीतिक पार्टियों से है।” (थाली भर चाँद, पृ. ९६) उसे डर है कि यदि वह विश्वास से मित्रता रखेगा तो उसका प्रमोशन नहीं होगा। इसलिए वह अपने दोस्त से दोस्ती तोड़ देता है। उससे वह कटा-कटा रहने लगता है। एक दिन विश्वास आफिस छोड़कर चला जाता है। लेकिन उसे किसी भी तरह का अफसोस नहीं होता। विश्वास आफिस छोड़ते हुए भी उससे हाथ मिला कर जाता है। श्यामली भी अपने पति के व्यवहार से परिचित हो जाती है। वह सारे काम पति के हिसाब से ही करने लगती है ताकि वह खुश रहे और अपने आप को कम औसत आय वाला ना समझे। घूमने-फिरने वाली, सिनेमा की शौकीन, जिंदगी को जीने वाली श्यामली अब घर की चार दीवारी में ही रहने लगती है। वह अपने पति का पूरा-पूरा सहयोग करती है जिससे उसे वह मुकाम मिले, जो वह हासिल करना चाहता है। वह अपनी खुशियों को त्याग देती है।

श्यामली की खूबसूरती, उसकी निश्चलता, उसके अंदर की कला उसे रिटायर होने के बाद दिखती है। वह अपने घर की दीवारों और पदों को इस प्रकार देखता है, जैसे उसके लिए नया है-“हर चीज उनके अस्तित्व से बेखबर, तटस्थ, अपने आप में डूबी हुई, लैंपशेड से लेकर दर्राज अलमारियों तक! उन्हें लगा जैसे किसी स्थिर ठहरी झील के बीच वे बोझिल पत्थर की तरह डूबते जा रहे हैं।” (थाली भर चाँद, पृ. ९३) अब वो उन सारे पलों को जीना चाहता है लेकिन बरसों से उसने जो अपने आप को बनी बनाई परिपाटी में बाँधकर रखा था, चाहकर भी अब उससे बाहर नहीं आ पा रहा था। इस तरह यह कहानी जीवन की आपाधापी तथा परिस्थितियों से समझौता परस्त आज के मानव के मुख्य व्यवहार को स्पष्ट करती है। समाज में श्यामली जैसी कई स्त्रियाँ हैं जिनके पति उसकी पसंद-ना-पसंद, रुचि, उसकी इच्छा और खुशियों के बारे में नहीं जानते हैं। इस समस्या का चित्रण ‘झील’ कहानी में बखूबी किया गया है। साथ ही कहानी में दाम्पत्य जीवन के बिखरते हुये रिश्ते तथा मानवीय जीवन का चित्रण भी है।

इस प्रकार सूर्यबाला ने अपनी कहानियों में वर्तमान समय की ज्वलंत समस्याओं को बड़ी ही सहजता के साथ प्रस्तुत किया है। वे एक संवेदनशील लेखिका की तरह मानव जीवन के सच को देखने-परखने और विश्लेषित करने की पैरोकार रही हैं। वे परंपरागत मूल्यों का उद्घाटन करने के साथ ही आगत जीवन मूल्यों को भी रेखांकित करने का सफल प्रयास करती हैं। उनके यहाँ कहानी अपनी पूरी संजीदगी के साथ प्रस्तुत होती है। यह लगता ही नहीं कि लेखिका आँखों देखी नहीं कह रही है। किसी भी रचनाकार की सफलता के लिए इससे अच्छा प्रमाण और दूसरा नहीं हो सकता। सच ही कहा गया है कि रचनाकार भूतकाल से बहुत कुछ ग्रहण करता हुआ, भविष्य के संकेत के साथ वर्तमान का चित्रण करता है। सूर्यबाला की कहानियाँ इस कथन की प्रमाण है।

सहायक प्राध्यापिका

एम. डी. महाविद्यालय, परेल, मुंबई.

□ □

सूर्यबाला की कहानियों में महानगरीय बोध

ज्योति बी. थोरात (बोहरा)

वर्तमान युग में संपूर्ण विश्व एक-दूसरे के निकट आ गया है। इसका मुख्य उद्देश्य व्यापार तथा मुनाफा कमाना है। इसी का नतीजा आज पाश्चात्य देशों की दिन-चर्या का प्रभाव हमारे देश की सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार आदि सब पर किसी न किसी रूप में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इस बदलते परिवेश को हम आज के समाज और साहित्य के द्वारा जान रहे हैं। इस दौर की प्रमुख एवं लोकप्रिय साहित्यकार 'सूर्यबाला' जी ने अपनी कहानियों में गाँव, कस्बे, नगर, महानगरों के इस बदलते परिवेश को बखूबी चित्रित किया है।

आज हम अनुभव करते हैं कि महानगरीय परिवेश में जीने वाला इन्सान अत्यधिक व्यस्त, त्रस्त और पीड़ित दिखाई देता है। उसके पास धन और समय दोनों की कमी होती है और आकांक्षाएँ ऊँची होती हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय भावों को उत्पन्न करने वाले आलम्बनों में अविश्वास, स्वार्थ, लालसा, व्यक्ति संघर्ष, परिवार में बिखराव, रिश्तों में गिरावट आदि को सहज ही देखा जा सकता है। इन भावों को व्यक्त करते हुए मानवीय संबंधों व रिश्तों के बीच संतुलन को सूर्यबाला की कहानियों में देखा जा सकता है।

सूर्यबाला जी के कहानी संग्रह 'दिशाहीन' की कुल नौ कहानियों में से चार कहानियों में 'महानगरीय परिवेश अभिव्यक्त हुआ है। इस कहानी संग्रह की प्रथम कहानी 'मेरा विद्रोह' -बालकों में बढ़ते अपराधों के प्रति सचेत करती कहानी है। आज हमारे समाज में बच्चों पर माता-पिता द्वारा शिक्षा के लिए गहरा दबाव डाला जा रहा है। उनकी इच्छाओं को जाने बगैर अपनी ही मनमानी करना; जिसका गंभीर नतीजा बालकों की मनोदशा पर होता है। परिणाम स्वरूप उनका व्यवहार क्रूर होता चला जाता है और वे विद्रोही बन जाते हैं।

इस कहानी के केंद्र में चित्रित परिवार के पिताजी अपने बेटे को इंग्लिश मीडियम स्कूल में पढ़ाते हैं। अपनी दयनीय आर्थिक स्थिति के बावजूद वह केवल अपना सपना पूरा करने हेतु बेटे पर खर्च करते हैं। लेकिन आज की चकाचौंध भरी भौतिक सुख-

सुविधा के दौर में बेटे को पिकनिक जाना, दोस्तों के साथ घूमना आदि बातें अच्छी लगती हैं जबकि पिता अपने बेटे को सिर्फ पढ़ाई करने के लिए मार-पीट कर नालायक तक करार दे देते हैं। इस व्यवहार के कारण बेटे में नफरत का जहर भर जाता है। हद तो तब दिखाई देती है जब रमण के बर्थडे पार्टी में जाते वक्त पिता जी बेटे को कस कर थप्पड़ मारते हैं, जिसके निशान उसके गाल पर अंकित हो जाते हैं।

रमण के मित्र जब रमण को बुलाने उसके घर पर आते हैं तो रमण के पिता उन्हें दरवाजे पर ही मिल जाते हैं। तत्पश्चात उनकी दृष्टि रमण के गालों पर पड़ती है। तब रमण के पिता सफाई देते हुए कहते हैं-सीढ़ियों से गिर गया... पिता जी के इस व्यवहार से बेटा आहत ही नहीं होता बल्कि उनके दोगले व्यवहार से भी परिचित हो जाता है।

मेरा दिमाग गुस्से से पागल हो गया। मन किया, जोर से चीख पड़ूँ-कि ये झूठे मक्कार और निर्दयी हैं। मुझे पीटकर लाए हैं और यहाँ झूठ बोल रहे हैं। पर बोला कुछ नहीं बस गुस्से से उन्हें घूरता रमण की उँगली पकड़े अंदर चला गया।

कॉन्वेंट स्कूल में पढ़ने वाले बेटे के मन में अपने ही पिता के लिए नफरत बढ़ जाती है जिससे वह अपराध की ओर बढ़ जाता है। पिता के प्रति विद्रोह तो तब दिखायी देता है जब वह सिगरेट खरीदकर उसे पीता है। यह दृश्य देख पिता की आँखों से आँसू ओझल होने लगते हैं। बेटा हमेशा पिता के आक्रोश, गुस्से को देखता था। इस रूप में देखकर उसे अपने किए पर पछतावा होने लगा। पिता जी से माफी माँगते हुए वह कहता है - पिताजी! मैं संधि चाहता हूँ। हाँ मैं संधि चाहता हूँ।

सूर्यबाला जी का संदेश बच्चों के मन में बढ़ते अपराधों को रोकना, उनकी मानसिकता को सकारात्मक करना है। साथ ही साथ उनके माता-पिता को सजग, सतर्क और सचेत करने आदि का सफल प्रयास सूर्यबाला जी ने किया है। इसी प्रकार 'कंगाल' कहानी के माध्यम से बेरोजगारी की समस्या को दिखाने का प्रयास सूर्यबाला जी ने किया है। महानगर में आने वाले हर युवक को नौकरी की तलाश रहती है। नौकरी पाने के लिए वह जी जान से प्रयास करता है। कहानी के केंद्र में विनय नामक युवक की मनोदशा का मार्मिक चित्रण हुआ है। एम.ए. तक पढ़ा हुआ विनय स्पर्धा परीक्षाएँ देता है। किंतु उसे सफलता नहीं मिलती। स्वभाव और संस्कार से विनय बड़ा ही अच्छा है। संयुक्त परिवार में रहने के बावजूद वह गुणी और होनहार लड़का है।

विनय के माध्यम से लेखिका समाज के गुणवान व्यक्ति का दर्शन कराती है, जिसे पढ़कर हमारे हृदय में सकारात्मक संतुष्टि का भाव उत्पन्न होता है। ठीक जैसे - 'समाज गुणों का पूजक है। कोयल की कुहू-कुहू बरबस हमारा ध्यान खींच लेती है, हमारे हृदय में आह्लाद भर देती है, अनुराग जगा देती है और कौए की 'काँव-काँव' हमें उत्तेजित कर

देता है और उसे कंकड़ मारकर उड़ाने को बाध्य कर देता है। इसे हम वाणी का प्रभाव ही कह सकते हैं।

इस कहानी में युवकों की दोहरी भूमिका दिखाते हुए, सूर्यबालाजी शिक्षा के प्रति चेतना जागृत करने का कार्य कर रही हैं। चूँकि शिक्षा ही व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं को दूर करने हेतु सकारात्मक सोच का निर्माण करती है। ठीक इसी प्रकार सूर्यबाला जी की 'गुजरती हदें' कहानी भारतीय और विदेशी संस्कृति के मिलाप की कहानी है। कहानी का नायक विदेश में रहता है, जो भारतीय परिवेश में पला-बढ़ा है, उस पर भारतीय संस्कार पड़े हुए हैं। कुछ ही दिनों के बाद वह विदेशी युवती से विवाह कर लेता है। एलिसा नाम की यह विदेशी युवती पत्नी धर्म निभाने में असमर्थ दिखाई देती है, जिसके कारण उनके बीच तलाक हो जाता है। भारतीय युवक अपनी पत्नी के इस तरह के व्यवहार से दुःखी हो जाता है। उसे अब विदेश में अपना वाला कोई नहीं रहता। जिस कारण वह स्वदेश लौटकर आ जाता है। एक अजीब सा अकेलापन जो यहाँ आकर दूर होने लगा था। घर के स्त्रियों का अपनापन, ममता, प्रेम के रूप को देखकर नायक अपना दुःख भूल जाता है। माँ, बहन, भाभी के अस्तित्व को वह अनुभव करने लगा था। उसकी खातिरदारी में अब पूरा घर जुट जाता है।

'सुबह उठने पर फिर माँ की आवाज कानों में पड़ी - 'अरे उसे जगा दो पुए बने कि नही अभी तक ? जगा दो, दातुन-कुल्ला करके पुओं में चीनी मजे में डालना। दीदी पूछने आई तो मैंने जहाँ तटस्थ भाव से कहा, नहीं बस चाय चाहिए। पेट बिल्कुल गड़बड़ है।

माँ बेटे की पसंद-नापसंद को जानती है, आनंद विभोर होकर बेटे के लिए अपने हाथों से मीठे पुए बनाने जुट जाती है। बहन के साथ भाई होने का रुआब तो दिखाई दे रहा है, पेट की गड़बड़ी की बात सुन वह भी कहती है कि - 'माँ ने सुना तो हाय-तौबा मचाने लगी। अजवायन की फँकी दे दो। अरे, मेरा बक्सा खोलो। नही, पुदीने की चाय बना दो।

कहानी के नायक की अवस्था एक स्त्री के ही कारण बनी हुई है। एक ओर स्त्री का वह रूप जिसे शास्त्रों ने भी स्वीकारा है। अर्थात् - 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' - जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। इसका प्रमाण नायक की माँ, बहन, भाभी सभी में दिखाई देती है। दूसरी ओर एलिसा है जो नायक की पत्नी के रूप में चित्रित है तथा जिससे दुःखी होकर नायक स्वदेश अपने परिवार के बीच आकर उस दुःख को भूलने की कोशिश करता है। वर्तमान में कई कहानीकार नारी के मुक्त मन को अपनी कहानियों द्वारा बताते हैं। लेखिका नमिता सिंह की कहानियों में अधिक से अधिक कहानियाँ इसी विषय पर चित्रित हैं। डॉ. मंजुल भगत के कहानी संग्रह 'गुलमोहर के गुच्छे' में 'रसप्रिया' कहानी के नायक राकेश ने विदेश में विवाह किया है, चूँकि स्वदेश में रहने वाली दादी माँ मरते समय तक नयी बहू के सौंदर्य की सिर्फ कल्पना ही करती रहती

है और अंत में मृत हो जाती है। इसी तरह नायक का विदेशी युवती एलिसा के साथ विवाह करना, घरवालों में नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के अंतर को मिटाने का प्रयास है। नायक की माँ, बहन, भाभी के विचारों में बदलाव आता है। वे सभी एलिसा को खुशी-खुशी स्वीकारने के लिए तैयार हैं। सच्चाई तो कुछ और ही है। अंत में नायक जैसे ही विदेश लौटना चाहता है, वैसे ही परिवार का माहौल बदलता है। आज के वातावरण में व्यक्ति को अपने देश, परिवार, समाज से अपनापन-प्यार मिलता हो, लेकिन चाहकर भी माँ अपने बेटे को नहीं रोक पाती यह स्थिति आज की प्रासंगिकता बयान करती है। महानगरीय परिवेश पर आधारित 'दिशाहीन' भी सूर्यबाला की लम्बी कहानियों में से एक कहानी है। महानगर की चकाचौंध की मायानगरी में हर नवयुवक सबकुछ भूल बैठते हैं। 'दिशाहीन' कहानी अपने शीर्षक की सार्थकता दर्शाती है।

आज के युवाओं को यह बात ध्यान में रखनी जरूरी है कि जीवन में जल्दी सफलता मिलने से अत्यधिक महत्वपूर्ण बात है कि उनके जीवन की दिशा का मार्ग सही होना। आम जीवन में हर तरह से व्यक्ति को समस्याओं का सामना करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में भटकने वाले लोगों को सही दिशा देने का कार्य 'सूर्यबाला' जी ने किया है। सही अर्थ में इसे मानव सेवा ही कहा जा सकता है।

'दिशाहीन' कहानी का नायक आज की बालकों की मानसिकता को दर्शाता है। जो होनहार बालक बचपन से ही पढ़ाई में तेज है, इंटरमीडियट में सबसे अधिक नंबर प्राप्त करके प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है। सगे संबंधियों से विचार विमर्श कर उसका ऊँची शिक्षा के लिए महानगर के विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेना तय हो जाता है। महानगरीय वातावरण में आकर यहाँ के तौर तरीके, उठना बैठना, इंग्लिश पिक्कर देखना, भौतिक सुविधा का उपयोग करना आदि को वह अपना लेता है, जिस कारण पढ़ाई में वह पीछे रह जाता है। उसे गलत आदतें लगाने वाले उसके शहरी मित्र पढ़ाई में अच्छे नंबर लाते हैं। एक बुद्धिमान बालक की यह मनोदशा आज की प्रासंगिकता को चित्रित करती है।

नायक के बड़े भाई उसकी पढ़ाई का खर्चा उठाते थे। लेकिन पिता जी के लिखे पत्र पढ़कर नायक को उसके घर की दयनीय स्थिति पता चलती है। घर में बूढ़े माता-पिता किस तरह अपना गुजारा कर रहे हैं। बड़े भाई अपनी पत्नी को लेकर अलग रहने लगते हैं। उनका अब परिवार के किसी भी सदस्य से कोई संबंध नहीं है। यह कहकर अपनी अलग गृहस्थी बसा लेते हैं।

'तुम्हारी माँ सदमे से खात पर पड़ गई हैं। कभी लड़कियों की शादी को लेकर, कभी तुम्हारी पढ़ाई को लेकर रात-दिन रोती है। कुछ समझ में नहीं आ रहा, क्या करूँ। अपना समाचार देना। अच्छा है। हॉस्टल छोड़कर आस-पास कोई कोठरी तलाश लो। लगन है पढ़ाई की तो खुद बना-खाकर कम खर्च में पूरी कर सकते हो। इस पत्र को पढ़कर वह

चुप हो जाता है। गुमसुम होकर अपना थैला हाथ में थामे अँधेरी सड़क पर अनाम दिशा की ओर निकल पड़ता है।

शायद दिशाहीन इस अंधकार की तरह ही मेरा भविष्य भी है।

उत्तरदायी कौन है, नहीं बता सकता,

पता नहीं कहाँ जाऊँगा, मैं दिशाहीन।

आज के समय की तीव्र गति में हर पल व्यक्ति को भय, निराशा और त्रस्त स्थितियों से गुजरना पड़ता है। उसे परिवार और समाज दोनों के बीच अपने आप को शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ रखना पड़ता है। व्यक्ति का यही संयम संतुलन बनाये रखने में विशेष योगदान देता है। चर्चित एवं लोकप्रिय कहानीकार सूर्यबाला की कहानियाँ पाठक वर्ग में सकारात्मक उर्जा के निर्माण का कार्य कर रही हैं। महानगरीय परिवेश में मानवीय संवेदना, जीवन के प्रति आस्था, नारी के प्रति चेतना, शिक्षा को बढ़ावा, बालकों की मनोदशा, नौकरी की समस्या आदि का चित्रण सूर्यबाला ने अपनी कहानियों के द्वारा किया है।

संदर्भ सूची

- 1) दिशाहीन (कहानी संग्रह), सूर्यबाला
- 2) आजकल पत्रिका, जून 2013

शोधछात्रा

बी. के. बिड़ला कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
कल्याण (पश्चिम), जि. थाना 421301

□ □

‘गृहप्रवेश’ का रचना-विधान

गणेश ताराचंद खैरे

सूर्यबालाजी ने अपनी कहानियों में अपने आसपास के भोगे हुए यथार्थ के विविध अंगों का वर्णन किया है। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। कहानी के ‘रचना विधान’ के सभी तत्वों का कुशलता पूर्वक गठन उनकी कहानियों में हमें देखने को मिलता है। 2008 में प्रकाशित इनके कहानी संग्रह ‘गृहप्रवेश’ में कुलमिलाकर सात कहानियाँ हैं, ये कहानियाँ मर्मस्पर्शी एवं संवेदनशील होने के कारण पाठकों के मन को छू लेती हैं।

‘गृहप्रवेश’ एक पारिवारिक कहानी है। कहानी का नायक वीरू शर्मा नौकरी के कारण गाँव से दूर अपनी पत्नी और बच्चों के साथ शहर में रहता है। वह जिस गली में रहता है, वहाँ बहुत सारी समस्याएँ हैं। वीरू उनसे छुटकारा पाने के लिए वहाँ से बहुत दूर घर बनाता है। ‘गृहप्रवेश’ के लिए वह अपनी बहन को परिवार के साथ बुलाता है। लेकिन बहन ‘गृहप्रवेश’ के लिए भाई के यहाँ समय पर नहीं पहुँच पाती। जब वह भाई के यहाँ पहुँचती है तो वहाँ घटित होने वाली घटनाएँ उसे सोचने के लिए विवश करती हैं। जैसे बांऊड़ी पार से आनेवाले चक्के, घर के पास शराब की भट्टियाँ, गुंडा प्रवृत्ति के आदमी के साथ भाई के संबंध, पड़ोस में ‘स्मगलर’ की कोठी आदि के कारण ‘गृहप्रवेश’ पर आई बहन का मजा किरकिरा हो जाता है। कहानी में बचपन की यादें, खेल के तरीके और मध्यवर्गीय परिवार की मानसिकता का सफल अंकन किया गया है। संपूर्ण कथावस्तु आरंभ से अंत तक उसी के ईर्दगिर्द घूमती है। इसमें दो शहरों की संस्कृति, खान-पान, अतीत के प्रसंग और वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।

‘सौदागर दुआओं के’ कहानी में एक मुस्लिम परिवार का चित्रण किया गया है जिसके केंद्र में सैय्यद साहब हैं जो हिंदू और मुसलमानों की दुआओं के सौदागर हैं। कहानी का प्रारंभ बीते दिनों की यादों पर प्रकाश डालता है, जिसमें जैक्सन साहब और उनकी ‘इंस्ट इंडिया कंपनी’ से जुड़ी यादों का जिक्र है। इसके साथ-साथ सैय्यद साहब की हवेली का वर्णन किया गया है। जब जैक्सन साहब द्वारा सैय्यद साहब से उनकी ‘कौम’ के बारे में पूछा जाता है तब वे बताते हैं, कि हिंदुस्थानी ‘कौम’ में अपना पराया भेद नहीं समीचीन

होता। इस शहर की यह खासियत है कि, गैर हिंदू मुहल्लों से गुजरेंगे तो वहाँ मंदिरों के कलम भी आपको दिखेंगे।

सैय्यद साहब गरीब हिंदू-मुसलमानों को मुफ्त में तावीज और दवा देते हैं। उनकी दवा को 'दुवाओं की दवा' माना जाता है। वे हिंदू-मुस्लिम धर्म की एकता के लिए प्रयत्न करते हैं। वह पुराने जमाने के रईस हैं। अपने परिवार के साथ गैर-मुसलमान मोहल्ले में रहते हैं। सूर्यबालाजी ने उनका चित्रण धर्मनिरपेक्ष, स्वाभिमानी, देशभक्त, समाजसेवक आदि रूपों में किया है। इस तरह यह कहानी आजादी के पूर्व हिंदू-मुसलमानों के बीच कैसे संबंध थे, इसे चित्रित करती है। कहानी की कथा 'मुस्लिम परिवार' से संबंधित होने के कारण उनके रहन-सहन, खान-पान आदि के साथ-साथ हिंदू-मुस्लिम संस्कृति पर भी यह प्रकाश डालती है।

'समापन' कहानी एक पत्र का सारांश है। कहानी के केंद्र में उम्र की अठहत्तरवीं सीढ़ी पर पैर रखनेवाली माँ है। जो बुढ़ापे में सभी प्रकार की कमजोरियों को अपनाकर जीवन में संघर्ष करती है। कहानी छोटी होते हुए भी बूढ़ी स्त्री की समस्याओं और मानसिकता का सफल अंकन करती है। वह र्यूमेटिक की मरीज है, जरा स्ट्रेस पड़ते ही र्यूमेटिक का दर्द उठता है। उसके प्रति परिवार में अपनापन है। आजकल घर में बुजुर्ग व्यक्ति को अलग दृष्टि से देखा जाता है किंतु इस कहानी में लेखिका बूढ़े लोगों के प्रति सहानुभूति निर्माण करने का प्रयत्न करती है।

'सुनो समित सुनो सुलभ' नारी केंद्रित कहानी है। इसकी नायिका विनीता है, जो शादी-शुदा है। उसका पति समित अपना कैरियर बनाने के लिए कॅनाडा जाता है। वहाँ हर काम में व्यस्त रहता है। वह वहाँ की एक युवती के प्रेम में फँस जाता है। विनीता इधर पंद्रह साल तक अपने बेटे सुलभ को बाप का प्रेम देकर पालपोसकर बड़ा करती है। अंत में बेटा भी बड़ा होकर अपने बाप के समान अपना 'कैरियर' बनाने के लिए भारत छोड़ता है। लेखिका एक मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री के मन में पति के प्रति विद्रोह और बगावत के विचार जगाती है। वह दूसरों के सुख में अपना सुख देखती है। पति से दूर रहने के बाद भी उसके मन में अनाचार के विचार नहीं आते, किंतु इसके विपरीत उसका पति समित विदेश में एक युवती के प्रेम में फँसता है। समित के बाद वह अपने बेटे सुलभ को पढ़ा लिखाकर पति समित के समान नौकरी के लिए योग्य बनाती है। वह भारतीय स्त्री का दायित्व निभाती है किंतु पति के बुरे व्यवहार से उसके प्रति विद्रोह भी करती है।

'सुखांतकी' एक मार्मिक कहानी है। कहानी का नायक इंदौर में वेल्लिंग की दुकान में काम करनेवाला है। मजबूरी के कारण वह भीख माँगता है। वह अपनी पत्नी के इलाज के लिए मानडिह जाता है, लेकिन उसके पास जितने पैसे थे, वे सब खर्च हो जाते हैं। वापस लौटते समय रेलगाड़ी में मुफ्त यात्रा करने के कारण टी. सी. उसे पकड़ता है। सूर्यबालाजी

इस कहानी द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि कहानी का नायक फुटपाथ का भिखारी भी हो सकता है।

‘सलामत जागीरे’ कहानी के केंद्र में ‘माँ’ है। वह अपने पति के मृत्यु के बाद बेटे को पाल-पोसकर उच्च शिक्षा दिलाती है। बेटा जब अपने परिवार के साथ माँ को लेकर रहता है, तब अपने बहू बेटे और नाती-पोते के साथ जो बातें करती है, उससे पुरानी यादें ताजा हो जाती हैं। माँ अपने बेटे को बताती है कि वह परिवार के लिए कितना त्याग करती है। उसके मन में जानवर और पंछियों के प्रति कितना प्रेम है, जैसे- बबुबेन (कुतियां) और मिट्टुभाई (तोते) से यह स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं पेड़ों के प्रति भी माँ के मन में प्रेम है। माँ के इस व्यवहार से किसी को कोई शिकायत नहीं होती। संक्षेप में उनके न रहने पर बेटे, बहू को माँ के स्वभाव, व्यवहार, विचार, त्याग आदि की याद आती है। कहानी आरंभ से अन्त तक माँ की विशेषताओं पर प्रकाश डालती है। माँ का हर एक के जीवन में और संसार में सबसे अलग महत्व होता है। भारतीय संस्कृति में माँ को ‘धरती’ कहा जाता है। सूर्यबालाजी ने प्रस्तुत कहानी में माँ की इन्हीं विशेषताओं को रेखांकित किया है। कहानीकार ने इस कहानी द्वारा माँ की असीम ममता, त्याग पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। कहानी की कथा नई और पुरानी पीढ़ी के संस्कारों को जोड़ने का काम करती है।

‘दूज का टीका’ कहानी के केंद्र में विधवा बुआ है। सूर्यबालाजी के साहित्य की यह विशेषता है कि कहानी के शीर्षक से लेकर कहानी की समस्या तक हर बात में विविधता है। कहानी की कथा ‘रक्षाबंधन के त्योहार’ का वर्णन करती है। बुआ शादी के कुल ढाई साल बाद विधवा हुई थीं। वह बेटे रतन के साथ मायके आ जाती हैं। वह अपने मायके में इतना काम करती है जिसके कारण वह परिवार के लिए आदर्श बनती हैं। बुआ के जीवन की अपनी आचार-संहिता है। जैसे- अपना काम खुद करना, आत्मनिर्भरता की आदत डालना, अपने पैरों पर खड़े रहना, स्वयंम के सुख-दुख को अपने आप निपट लेना आदि।

भारतीय संस्कृति में ‘त्योहारों’ का महत्व अनन्य है। कहानी की भाषाशैली दो पीढ़ियों के बीच समन्वय स्थापित करती है। नई पीढ़ी पर अंग्रेजी का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इस कहानी के माध्यम से सूर्यबालाजी ने ‘दूज का टीका’ त्योहार के महत्व के साथ-साथ विधवा बुआ की स्वभावगत विशेषताओं, पुराने संस्कारों पर प्रकाश डाला है। वे नई पीढ़ी को वही संस्कार ‘सौगात’ के रूप में देना चाहती हैं।

शोधछात्र
हिंदी विभाग,
चांदमल ताराचंद बोरा महाविद्यालय,
शिरूर, जि. पुणे
□ □

सूर्यबाला जी से सुधीर चौबे की एक बातचीत

डॉ. सुधीर कुमार चौबे

प्रश्न : 'मेरे संधिपत्र' उपन्यास की कथानायिका शिवा हमेशा समझौता करती नजर आती है। ऐसा दर्शाकर क्या आपने शिवा के साथ न्याय किया है ?

उत्तर : देखिए! मैं जो लिख रही हूँ वह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है पाठकों की अनुभूति कि उनको क्या लगा ? यह उपन्यास ऊपर से देखने में सहज परंतु अंदर से, स्त्री मन और मनुष्य मन की दृष्टि से काफी गहराई से भरा है। मेरे प्रायः सभी पात्र अत्यंत संवेदनशील हैं और अपने विवेक से निर्णय लेते हैं। शिवा भी ऐसी ही है। वह अतिनिम्न मध्यम वर्ग, तंगहाल घर की बेटी है, जिसका ब्याह बिना दहेज के संभ्रांत कुलीन परिवार में होता है, जहाँ वह रानी की तरह रहती है। शिवा के ऊपर बिना दहेज के इतने समृद्ध घराने में विवाह का बहुत बड़ा अहसान है। हम जिसके ऋणी होते हैं उसके लिए हमेशा सोचते हैं कि हम ऐसा क्या करें कि उनके अहसान का कर्ज चुका सकें। शिवा के परिवार में सभी उसके मनोनुकूल हैं, उसके पति के द्वारा बेटे की चाहत जानबूझकर दिखाकर हमने ये दर्शाना चाहा है कि उसका पति हर दृष्टि से बहुत अच्छा है; कारोबार व्यापार में फायदा होते ही शिवा के लिए बहुत कुछ करना चाहता है परंतु वह देवता नहीं है। मेरे पात्र न देवता होते हैं न ही खलनायक होते हैं। सबसे बड़ी बात कि शिवा के जीवन में कोई ऐसा है ही नहीं, जिसके विरुद्ध वह खड़ी हो, सब कुछ उसके अनुकूल है। इसको स्त्री-विमर्श के चश्मे से देखना उचित नहीं है क्योंकि ये जरूरी तो नहीं कि हर स्त्री या हर पुरुष सिर्फ अपने लिए जाए। अपने लिए न सही, अपनों के लिए या दूसरों के लिए जीना अधिक श्रेयस्कर है। जहाँ तक शिवा के समझौते का प्रश्न है यह पाठकों का अपना नजरिया है। मेरे हिसाब से आज समझौता शब्द डिक्शनरी से निकाल दिया गया है। समझौता शब्द बहुत बड़े पैमाने पर समझदारी और विवेक की माँग करता है बशर्ते कि कोई स्त्री या पुरुष यह समझ ले कि कहाँ उसे परिस्थितियों के अनुकूल खड़ा होना है और कहाँ उनके प्रतिकूल खड़ा होना है। समझौता शब्द कोई गाली नहीं है। परंतु स्त्री विमर्श से शिवा को जोड़कर उसे समझौतावादी करार देना मेरे अनुसार बिल्कुल अनुचित है। बस हकीकत यही है कि उसके जीवन में ऐसा कुछ नहीं, कोई नहीं जिसके विरुद्ध वह खड़ी हो, वह रायजादा परिवार की ऋणी रहती है।

प्रश्न : उपन्यास 'सुबह के इंतज़ार तक' में मानू को बीमारी से स्वस्थ दिखाकर उपन्यास का सुखद अंत संभव था, परंतु आपने दुखांतक ही क्यों चुना ?

उत्तर : दरअसल उपन्यास के पात्र तो लेखक मन की ही उपज होते हैं परंतु वे मेरे हाथ की कठपुतली नहीं रह जाते। जन्माते तो हम ही अपने पात्रों को हैं लेकिन धीरे-धीरे पात्रों की अपनी स्वतंत्र सत्ता होती चली जाती है। यदि मैं चाहूँ तो भी उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती, मैं चाहूँ तो भी मानू अच्छी नहीं हो सकती।

एक बात और कि यदि इस उपन्यास में मैंने सुखान्तक को दिखाया होता तो यह उपन्यास पाठकों को अभी तक इतना नहीं कचोटता होता। मानू के साथ जो घटित होना था सो तो हो गया, अपने निरंतर संघर्ष से उसने अपने और बुलू के वर्तमान को सँवार लिया, लेकिन यदि मुझे उसका भविष्य दिखाना होता तो यह मेरे लिए काफी चुनौतीपूर्ण होता। लेखक के सामने एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। मानू का जो दुर्भाग्यपूर्ण अतीत रहता है उससे प्रभावित उसका वर्तमान जहाँ तक उपन्यास में है, वहाँ तक तो चल गया लेकिन मानू के भविष्य के प्रति मेरी बहुत बड़ी जिम्मेदारी थी कि मानू का अंत नहीं होता तो उसके भावी जीवन में और न जाने कितनी समस्याएँ होतीं। मानू का जीवन छोटा अवश्य रहा परंतु एक तरह से उपलब्धि भरा रहा। ज्यादातर जीवन ऐसा ही होता है। दरअसल मैं अपने उपन्यासों में सब कुछ विश्वसनीय दिखाना चाहती हूँ। यदि मैं इसका सुखांत दिखाई होती तो इस उपन्यास को लोग बॉक्स ऑफिस पर ही भूल जाते।

प्रश्न : 'दीक्षांत' उपन्यास में आपने शिक्षाजगत में व्याप्त भ्रष्टाचार और विसंगतियों-विकृतियों का अत्यंत मार्मिक विवेचन किया है। इस संदर्भ में अपने जीवन की अनुभूतियों के बारे में बताइए।

उत्तर : देखिए! ये लोगों का कहना है, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के डॉ. सुखदेव सिंह ने जो कि एक अच्छे समीक्षक थे, अब नहीं हैं, उन्होंने कहीं लिखा था- 'सूर्यबाला ऐसी लेखिका हैं जिन्होंने कभी शिक्षण संस्थानों में काम नहीं किया, बाहर नहीं निकलीं, उन्होंने भी शिक्षणजगत की विसंगतियों को उजागर किया है, लेकिन मैं इसके पीछे के तथ्य को आपको बता दूँ कि मुंबई में आने के बाद मैंने हफ्ते में दो दिन के हिसाब से थाने कॉलेज में वहाँ के प्रिंसिपल के आग्रह पर पढ़ाया है वहाँ कुछ ही दिनों में जो कुछ देखा, वही इस उपन्यास के केंद्र में है। मैंने कॉलेज में ही ऊपर की सीढ़ी पर खड़े किसी विद्यार्थी को नीचे से सीढ़ियाँ चढ़ रहे शिक्षक के सिर पर चॉक से मारते देखा था और शिक्षक को आसपास देखते हुए देखा था कि कोई देख तो नहीं रहा है। यह चोट उन्हें बाहर नहीं, बल्कि उनके अंतर्मन में गहराई से लगी थी। यह दृश्य मेरी आत्मा में क्लिक हो गया था। मैं कॉलेज में विद्यार्थियों की उदंडता, शिक्षक, शिक्षक-प्राचार्य और मैनेजमेंट का जो रूप देखा उसने मुझे भीतर तक झकझोर कर रख दिया। देखिए! किसी भी उपन्यास या कहानी में अगर आपके जीवन में थोड़ा भी मूल बिंदु अपना भोगा हुआ है, अपना महसूस किया हुआ है, तो आप किनारे-किनारे कहानी को लेकर चल पड़ते हैं।

प्रश्न : 'अग्रिपंखी' उपन्यास में मुंबई की झुग्गी झोपड़ियों में रहनेवालों का आँखों देखा हाल जैसा वर्णन कैसे संभव हुआ ?

उत्तर : देखिए! मैंने अपने जीवन में हर तरह का सामाजिक परिदृश्य देखा है, घूम-घूम कर देखा है, उसका हिस्सा होकर देखा है, सुना है। सुविधा भोगी समृद्ध जीवन जीते हुए भी मैं उस जीवन की साक्ष्य रही हूँ। मेरे गाँव में एक महिला थीं जो बड़ी इच्छा से बेटे के यहाँ मुंबई आईं, कुछ समय बाद कोई उनसे मिलने वहाँ गया था। उसी ने आकर बताया कि वे वहाँ बहुत दुखी हैं, छोटे से कमरे में पर्दा डालकर बेटे-बहू के साथ रहती हैं। ये शहरों की बहुत बड़ी विडंबना है कि छोटे-छोटे गाँवों से लोगों का शहरों की ओर नौकरी-चाकरी के लिए पलायन करना और शहरों में किसी भी तरह जीवन यापन करना। मैं इसकी साक्ष्य रही हूँ।

प्रश्न : 'यामिनी कथा' उपन्यास में पुतुल अंततः अपने पिता के पेशे को यानी कि मर्चेट नेवी के मरीन इंजीनियरिंग का चयन ही क्यों करता है ?

उत्तर : पुतुल के जीवन में जब दूसरा पिता आता है तो स्वभावतः उसका जुड़ाव अपने पिता के प्रति और बढ़ता है। वो जो किशोरवय का एक विद्रोही मन होता है, वह अपनी प्रतिक्रिया करता है। उपभोक्तावादी संस्कृति में यदि यामिनी और विश्वास के संबंधों को देखा जाए तो प्रतीत होगा कि यह जीवन कितना अर्थ केंद्रित होता चला जा रहा था। निखिल के साथ पुतुल का जीवन सामान्य बनाने के लिए यामिनी खूब प्रयत्न करती है परंतु निखिल उसे समझाता है कि यह संबंध बिजली के बटन की तरह नहीं है कि ऑन-ऑफ हो जाए, पलक झपकते ही पुतुल निखिल को अपना पिता मानने लगे। उपन्यास के अंत में घर से दूर जाते समय धीरे-धीरे पुतुल निखिल को पिता के रूप में स्वीकार कर लेता है परंतु जीवन भर अपने पिता का स्थान वह शायद किसी को नहीं दे पाया है यही कारण है कि वह अपने पिता द्वारा चुने गए पेशे को ही अपने पेशे के रूप में चुनता है।

प्रश्न : इधर पिछले अठारह-बीस वर्षों से आपका कोई नया उपन्यास नहीं आया है इसकी कोई खास वजह ?

उत्तर : देखिए! मैं कभी योजना बनाकर, बहुत अधिक समीकरण बनाकर योजनाबद्ध तरीके से काम नहीं करती। मैं लेखन को महत्वाकांक्षा के रूप में लेती भी नहीं हूँ बल्कि आनंद और सुख के रूप में लेती हूँ। आनंद से जीवन गुजारने के साथ-साथ जैसे-जैसे समय मिलता है व्यंग्य, कहानियाँ लिख रही हूँ। अभी हाल ही में 'अलविदा अन्ना' नाम की एक संस्मरण की पुस्तक प्रकाशित हुई है। उपन्यास पर मेरा काम चल रहा है।

प्रश्न : कुछ वर्षों पूर्व आपके विदेश प्रवासों पर आधारित एक स्मृति कथा 'अलविदा अन्ना' पाठकों द्वारा बहुत सराही गई थी। इन संस्मरणों और विशेषकर 'अलविदा अन्ना' के माध्यम से आपने, भारतीय और पश्चिमी संस्कृति के मूलभूत अंतर के साथ-साथ परिवार, संस्था, समाज और जीवन से जुड़े कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं। वहीं अन्ना के समीचीन

माध्यम से जीवन के बहुत गहरे प्रश्नों को भी बड़ी सहज एवं खिलंदड़ी भाषा में समझने-समझाने की कोशिश की है। कैसे कर पायीं आप यह ?

उत्तर : दरअसल यह मेरी दुःखती रग है। स्वदेश हो या विदेश, सच तो यह है कि यांत्रिक विकास की चकाचौंध वाली जिस आधुनिक संस्कृति के हम अभ्यस्त होते जा रहे हैं, वह अकेलेपन, अविश्वास और परायेपन की संस्कृति है जो धीरे-धीरे हमारे संबंधों की प्रगाढ़ता को सोखती चली जाती है। चूंकि पश्चिमी देश ज्यादा विकसित हैं, इसलिए वहाँ की जीवनशैली और एटीकेट्स जहाँ बच्चों को निर्भीक और आत्मनिर्भर बनाते हैं, वहीं उन्हें ज़रूरत से बहुत ज्यादा स्वार्थी, आत्मकेंद्रित और अविश्वासी बना देते हैं। अपनी साढ़े चार वर्ष की पोती अन्ना को भी लेकर पहले मैं बड़े तकलीफदेह मोहभंग से गुजरी। लेकिन चूंकि वह मेरी बच्ची थी अतः उसके मन के संसार में उतरकर मैंने कुछ दिलचस्प प्रयोग किये। उदाहरण के लिए पौराणिक कहानियों से लेकर उसे आज तक की कहानियाँ सुनाना, राम, सीता, हनुमान व कृष्ण से लेकर ईदगाद तक... मजेदार नाटक खेलना... भारतीय हास्य व्यंग्य से भी भरपूर... क्रमशः वह छोटी बच्ची बदलती गई। मेरे लिये यह सुखद आश्चर्य था। मैंने कभी सोचा नहीं था कि इस नकचढ़ी सखी बच्ची के अंदर से इतने मीठे पानी का सोता बह निकलेगा...। मुझे खुशी है कि मैं उसके अंदर भी परायेपन की दीवार को ध्वस्त करने में सफल रही। लेकिन इसका बहुत सारा श्रेय उस बच्ची को भी जाता है। वह जितनी हठी, जिद्दी और दबंग थी, उतनी ही कल्पनाशील और खिलंदड़ी भी।

प्रश्न : सुना है, इधर ही आपका नया उपन्यास, 'वेणु की डायरी' आ गया या आनेवाला है। उसके विषय में बताएंगी कुछ ?

उत्तर : पहले तो यही कि उसका शीर्षक मैंने बदल कर 'कौन देस को वासी...' (वेणु की डायरी) कर दिया है क्योंकि 'वेणु की डायरी' शीर्षक से इसके कई अंश, कथादेश, 'सामयिक सरस्वती', 'आजकल', 'अक्षरा', 'पाखी' आदि कई पत्रिकाओं में आ चुके थे। ऊपर-ऊपर तो यह 'प्रवासी-भारतियों' पर लिखा ही लगता है पर चूंकि मेरी कलम हमेशा मनुष्य के अंतरिम प्रकोष्ठों की गहराइयों की कहानी कहना चाहती है। अतः यह उपन्यास भी आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व विदेश गए एक संवेदनशील युवक वेणु की अंतर्गात्राओं का लेखा-जोखा है बस। शेष आप स्वयं पढ़िये।

सहायक प्राध्यापक
के. सी. कॉलेज, दिनशा वाच्छा रोड,
चर्चगेट, मुंबई-४०००२९

□ □

देवेश ठाकुर रचनावली
(16 खंडों में)
(द्वितीय संस्करण)

मूल्य : 16,500/-

नमन प्रकाशन
4231/1, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

अगला अंक



श्रवणकुमार गोस्वामी की
रचनाओं पर केन्द्रित

With best compliments from :

RAJESH C. KEWAT

**R. C. C. CONSTRUCTION,
PLASTER AND
PLUMBING WORK**